स्वाध्याय, सत्संग और चिंतन-मनन

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

२०००

मूल्य : ५-०० रुपया

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

मनुष्य की वास्तविक शक्ति ज्ञान है, पर वास्तविक ज्ञान क्या है ? वास्तविक ज्ञान का लक्षण तो वह स्थिर बुद्धि और उसका निर्देशन है, जिसे पाकर मनुष्य अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अशांति से शांति की ओर और स्वार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होता है। स्वाध्याय, सत्संग एवं चिंतन-मनन की त्रिपदा साधना ही उस ज्ञान की सिद्धि का उपाय है।

मुद्रक :
युग निर्माण प्रेस
मथुरा।

जागृत जिज्ञासा एवं सतत स्वाध्याय व्यक्तित्व-विकास के अमोघ उपाय

"शीघ्र मृत्यु से बचना है तो मानसिक व्यायाम कभी भूलकर भी बंद न करें। मानसिक व्यायाम अर्थात् स्वाध्याय का अर्थ कुछ भी पढ़ना नहीं। जो विषय आप नहीं जानते उसका अध्ययन कीजिए। किसी ऐसे विषय का अध्ययन कीजिए, जिससे आपको अपनी खोपड़ी खुजानी पड़े।"

यह शब्द अमेरिका के ६७ वर्षीय डॉ० श्वार्टज के हैं। डॉ० श्वार्टज का कहना है कि मनुष्य की मृत्यु वृद्धावस्था के कारण नहीं होती, मानसिक संस्थान की क्रियाशीलता के रुकने के कारण होती है। जो लोग निरंतर क्रियाशील रहते हैं, उनकी आयु लंबी होती है। यही नहीं वे अपने अनेक शारीरिक विकारों को भी दाब बैठते हैं, उन पर शारीरिक त्रुटियों का भी दुष्प्रभाव परिलक्षित नहीं होने पाता।

डा० श्वार्टज के मत के अनुसार अपने देश के ऋषियों, महर्षियों के जीवन का अध्ययन करें तो विश्वास हो जाएगा कि उनके दीर्घायुष्य का कारण उनकी मनोचैतन्यता ही थी। शारीरिक श्रम के साथ में मानसिक दृढ़ता और विचारशीलता के कारण वे सैकड़ों वर्षों की आयु हँसते हुए जीते थे।

अपने कथन की पुष्टि में डॉ० श्वार्टज ने एक ८४ वर्षीय अमेरिकन व्यापारी को प्रस्तुत किया, इस व्यापारी में अपने व्यापार के लिए नई-नई बातें खोजने की क्षमता है। यह अपने मस्तिष्क को सदैव कुरेदता और विचारता रहता है; जब कभी विचार ढीले पड़ जाते हैं, तब वह पढ़कर फिर सोचने के लिए नए विचार पैदा कर लेता है। विचारों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटती रहें, इसके लिए उसके जीवन में कर्म का समन्वय है अर्थात् वह जितना सोचता-विचारता है, उतना ही क्रियाशील भी है।

व्यापारी से पूछा गया—"आपको शारीरिक शिकायत तो नहीं है ?" इस पर उसने हँसकर उत्तर दिया—"शिकायत होती तो डॉक्टर को न दिखाते आप देख लें, आप तो डॉक्टर हैं, कोई शिकायत होगी तो आपकी पकड़ से बाहर थोड़े ही जा सकेगी।"

डॉक्टरों ने परीक्षा की। डॉक्टर आश्चर्यचकित थे कि संसार भर की तमाम बीमारियाँ उसके शरीर में भरी पड़ी हैं, लेकिन उसके काम की तल्लीनता और विचारों की सजगता के कारण शरीर का विष जलता रहता है और बीमारियाँ होते हुए भी उसे चारपाई पकड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बीमारियों की ओर तो उसका कभी ध्यान भी नहीं गया। वह अपनी आयु के किसी भी व्यक्ति से ज्यादा काम करते हैं, व्यवसायिक कार्यों से संबंधित अध्ययन के बाद भी ग्रह-नक्षत्रों की खोज, जीवात्मा परमात्मा संबंधी जानकारियाँ, प्रकृति और मनुष्यगत आश्चर्यों, चमत्कारों को पढ़ने के लिए वे कुछ न कुछ समय प्रतिदिन निकालते हैं। इन जिज्ञासाओं के कारण न तो उनका मस्तिष्क ठप्प पड़ता है न क्रिया-कलाप।

डॉ० फ्रेडरिक श्वार्टज अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन के अध्यक्ष हैं। जीवन के सबसे बड़े आश्चर्य मृत्यु की खोज में उनकी गहन अभिरुचि है। उसे रोक सकना तो भौतिक दृष्टि से शायद ही कभी संभव हो पर यदि पौराणिक आख्यान सत्य हैं, जैसा कि अब प्रमाणित भी हो रहा है, तो आयु को हजार वर्ष तक खींच ले जाने की संभावनाएँ अगली शताब्दियों में ही सत्य सिद्ध हो सकती हैं।

उसके लिए डॉ० श्वार्टज ने जो फारमूला बताया है, वह ऊपर दे दिया गया है। आश्चर्यों की खोज के प्रति हमारी जिज्ञासाएँ जितनी तीव्र होंगी और शारीरिक दृष्टि से जब तक क्रियाशील बने रहेंगे, मृत्यु तब तक दूर ही रहेगी, भले ही शरीर के कई कल-पुर्जे काम करना भी बंद कर दें।

विकास की पृष्ठभूमिका—जिज्ञासा—

पाश्चात्य देश पिछली शताब्दी से विज्ञान में तेजी से प्रगति करते जा रहे हैं। हजारों प्रकार के ऐसे उपकरणों—तत्त्वों का उन्होंने अन्वेषण किया जो आज लोगों को बड़े आश्चर्य के रूप में दिखाई दे रहे हैं। विज्ञान की उन्नति ने ही इन देशों को धन और साधन संपन्न

बना दिया है। इसका श्रेय किसी दैवी शक्ति को न देकर उन लोगों की सूझ-समझ को देना ही उचित लगता है।

उन्होंने इतनी उन्नति कर ली और हम अभी निम्न श्रेणी में ही पड़े हैं। यह एक प्रश्न है जो हमें बार-बार कारण की खोज करने को विवश करता है। हमारे देश में प्राकृतिक साधनों की कोई कमी नहीं, मनुष्यों का अभाव भी नहीं है। लोग चाहें तो अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचे उठकर स्वयं भी उस वैज्ञानिक प्रगति और धन संपन्नता की श्रेणी में पहुँच सकते हैं, जो पाश्चात्य देशों को उपलब्ध है। किंतु कुछ कमी है जो हमारी प्रगति में बाधक है और हमें वर्तमान स्थिति से ऊँचे नहीं उठने देती हैं।

वैज्ञानिक प्रगति पाश्चात्य देशों की विरासत नहीं है। भारतवर्ष किसी समय उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचा था इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी देश इस क्षेत्र में ऊँचे न उठ पाने के लिए प्रतिबंधित नहीं है। ज्ञान हो तो एक से एक बढ़कर आविष्कार और अन्वेषण यहाँ भी किए जा सकते हैं और हर तरह की भौतिक समृद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी चेष्टा करना धर्म की दृष्टि से भी कुछ बुरा नहीं है। भौतिक समुन्नति भी अध्यात्म का ही एक अंग है। हमारा आर्ष इतिहास यह बताता है कि जिन दिनों यहाँ धर्म-तत्त्व का जागरण पूर्णता की स्थिति में था उन दिनों भौतिक दृष्टि से भी यह देश आज के अमेरिका, ब्रिटेन आदि से भी बढ़-चढ़ कर था। परिष्कृत अध्यात्म का लक्षण है—भौतिक समृद्धि। धर्म उसके बिना अधूरा है। साधनों के अभाव में अध्यात्म फल-फूल भी तो नहीं सकता।

जब कोई देश नया आविष्कार करता है तो उस पर हमें भी कौतूहल नहीं होता। रेडियो, टेलीविजन, परमाणु शक्ति, ऊर्जा-शक्ति, चंद्रमा की ओर प्रयाण आदि अनेकों बातें जब हमारे सामने आती हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है, कौतूहल पैदा होता है। किंतु हमारा कौतूहल बाह्य मात्र है। हम केवल कहने-सुनने तक सीमित हैं। किसी वस्तु के प्रति आश्चर्य प्रकट कर देने मात्र से वैज्ञानिक प्रगति की आवश्यकता पूरी नहीं होती हमारा कौतूहल दरअसल आंतरिक होना चाहिए तभी सच्चे ज्ञान, आविष्कार और भौतिक समृद्धि की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है। कोरी शाब्दिक अभ्यर्थना किसी काम की नहीं होती। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आंतरिक

कौतूहल आवश्यक है। उस वस्तु की तह तक पहुँचकर सारी जानकारी प्राप्त कर लेना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

वैज्ञानिक विकास का पूर्व इतिहास यह है कि लोगों के मन में यथार्थ के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई। इससे वस्तु विश्लेषण की प्रक्रिया चल पड़ी। इस प्रकार का ऐनालिसिस जितना बढ़ा उतना ही यथार्थ की शक्ति और दक्षता का ज्ञान होता गया और उस बढ़े हुए ज्ञान के कारण तरह-तरह के आविष्कार हुए। आविष्कार परिणाम है, जिज्ञासा या आंतरिक कौतूहल इसका जन्मदाता। वस्तु के प्रति आश्चर्य का भाव पैदा न होता तो परमाणु शक्ति का पता भी न चला होता और आज के बढ़ते हुए वैज्ञानिक आविष्कारों का कहीं नाम-निशान भी नहीं होता।

ताप, चुंबक, विद्युत, शब्द और पदार्थ के अनेक सूक्ष्मतम रहस्यों का ज्ञान और उन सिद्धांतों के आधार पर वैज्ञानिक यंत्रों का निर्माण तभी संभव हुआ जब लोगों ने वस्तु के रहस्य को जानने का प्रयत्न किया और तभी वे इतनी उन्नति कर सके।

पाश्चात्य देशों के लिए यह कोई नई बात नहीं है। ऋषियों का जीवन इन खोजनों में इतना रत रहता है कि उन्हें अपने सुखों और सुविधाओं में भी कटौती कर समय निकालना पड़ता था। खाने की चिंता से मुक्त होने के लिए ऋषि, पीपल के फलों पर, खेतों पर गिरे हुए अन्न के दानों पर ही अवलंबित रह जाते थे और तत्परतापूर्वक ज्ञान की शोध में लगे रहते थे। "वेद" का प्रादुर्भाव कोई सामान्य घटना नहीं है, उनमें विश्व का गूढ़तम दर्शन और विज्ञान भरा हुआ है। उन्हें कोई व्यक्ति एक अंश में भी जान जाए तो अतुलित शक्ति, शौर्य और साधनों का स्वामी बन जाए। इतनी बड़ी खोज यों ही नहीं हो गई ऋषियों ने जीवन-दर्शन और प्रकृति को बहुत बड़े आश्चर्य के रूप में देखा इसी से प्रेरित होकर वे 'वेद' की शोध कर सके।

मानव जीवन चूँकि बहुत अधिक मात्रा में इस पृथ्वी पर बिखरा पड़ा है इसलिए उसके प्रति लोगों में आश्चर्य का भाव नहीं हैं। शारीरिक, तृष्णाएँ, लालसाएँ, ऐषणाएँ भी इस मार्ग में बाधक हैं। मानव जीवन की विपुलता और इच्छाओं, लालसाओं में व्यस्त रहने के कारण मनुष्य आत्म-रहस्य जानने को भी तत्पर नहीं होता इसलिए वह अपने आप में भी एक पहेली बना हुआ है। इसके प्रत्येक

क्रिया-कलाप में भ्रम है, भूल है, अनात्मिकता है। यह सब इसलिए ही है कि लोगों में अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति कौतूहल का भाव नहीं है। भौतिक पदार्थों के प्रति कौतूहल से जो विज्ञान बना उससे भौतिक समृद्धि हुई। जिस आत्म ज्ञान से शक्तियों का प्रकाश होता है उससे आध्यात्मिक बल समुत्पन्न होता है। इस स्थिति में पहुँचकर ही मानव जीवन का लक्ष्य पूरा होता बताया जाता है। पर इन दोनों ही स्थितियों के लिए जन-मानस में जिज्ञासा का प्रवेश होना आवश्यक है। मनुष्य की भावनाओं में ज्ञान और विकास की भूख मिटती है तो वह बिलकुल आलसी, अशक्त, दीन-हीन एवं क्लेशपूर्ण परिस्थिति में गिर जाता है। उन्नति के द्वार बंद हो जाते हैं और वह मनुष्य जीवन के उद्देश्य से च्युत हो जाता है। उनकी प्रवृत्तियाँ अधोगामी हो जाती हैं और वे सब प्रकार के विकास से वंचित रह जाते हैं।

आज इस देश की स्थिति ठीक ऐसी ही है। भौतिक पदार्थों के प्रति उनकी जिज्ञासा का प्रभाव यह है कि हमारी भौतिक समृद्धि अवरुद्ध है और स्थूल देह में मानिष्ट प्राण के प्रति कौतूहल नहीं है इसलिए अध्यात्म ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय अंधकार में पड़ा है। लोग जिस स्थिति में हैं उससे तनिक भी आगे बढ़ने की इच्छा नहीं करते। ज्ञान के क्षेत्र में जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, शोध के लिए जो सांसारिक वासनाओं को मारना पड़ता है, उससे लोग डरते से रहते हैं। इसलिए हमारी विकास की प्रक्रिया अधमुँदी पड़ी है। राष्ट्र का आविष्कृत ज्ञान भी इसीलिए प्रभावशील होते हुए भी निष्क्रिय-सा, अनुपयोगी-सा पड़ा हुआ है।

अब जब हम विकास के लिए अग्रसर हो रहे हैं तो आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों क्षेत्रों में हमारी जिज्ञासाएँ समान रूप से जागृत होनी चाहिए। जब तक किसी वस्तु के प्रति सच्चे हृदय से आकर्षित नहीं होते, तब तक उसका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता पर जिस वस्तु में रुचि होती है, उसके उन पहलुओं पर हमारा मन, हमारी कल्पनाएँ दौड़ती हैं और उससे संबंधित सारी जानकारी हमें उपलब्ध करा देती हैं। बढ़े हुए ज्ञान का उपयोग किसी भी दिशा में किया जा सकता है। आत्मिक ज्ञान की अधिकता से सद्‌गुणों का और आंतरिक सुख का अभाव दूर होता है। उसी तरह भौतिक ज्ञान की अधिकता से साधनों का लाभ प्राप्त होता है और

सांसारिक सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। यह निश्चित है कि ज्ञान ही मनुष्य के विकास का मूल तत्त्व है और जागरण के लिए जिज्ञासा आवश्यक है।

जिज्ञासा जगाइए और अपना ज्ञान भंडार भरिए—

जिज्ञासा मानव जीवन के विकास का बहुत बड़ा आधार है। जो जिज्ञासु हैं, जानने को उत्सुक हैं वही जानने का प्रयत्न भी करेगा। जो जिज्ञासु नहीं उसे जड़ ही समझना चाहिए। पेड़-पौधे यहाँ तक पशु-पक्षी भी कुछ नया जानने के लिए कभी उत्सुक नहीं होते। जिज्ञासा की विशेषता ही मनुष्य को पशुओं से भिन्न करती है। वैसे जिज्ञासा के अभाव में मनुष्य भी अन्यों की तरह दो हाथ-पैर वाला पशु ही है।

जिज्ञासा में स्वयं अपनी एक ज्ञान शक्ति होती है। जिज्ञासा के जागते ही किसी बात को जान सकने का सहायक ज्ञान स्वयं ही विकसित होने लगता है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा गहरी होती जाती है ज्ञान भी बढ़ता जाता है, मनुष्य की जिज्ञासु वृत्ति ने ही उसे दार्शनिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक एवं अन्वेषक बनाया है।

यदि जिज्ञासा न होती तो, मनुष्य में इस प्रकार के प्रश्न ही क्यों जागते कि वह क्या है ? यह विराट् विश्व क्या है ? इसका रचयिता कौन है ? और इस संपूर्ण प्रपंच का प्रयोजन क्या है ? इस सबका आदि कहाँ से प्रारंभ होता है ? अंत कहाँ होगा ? और क्यों इन प्रश्नों का उत्तर खोजने में परिश्रम करता। जिज्ञासा के अभाव में, मनुष्य आज जिस ज्ञान पूर्ण स्थिति में आया हुआ है, कभी नहीं आ पाता। यह जिज्ञासा की ही प्रेरणा है कि आज मनुष्य का ज्ञान भंडार इतना विशाल हो सका है और आगे इस ज्ञान भंडार में जो कुछ वृद्धि होगी उसका भी मुख्य हेतु जिज्ञासा होगी।

आज यदि मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति कुंठित अथवा तिरोहित हो जाए तो उसका ज्ञानाभिमान जहाँ का तहाँ ठप्प हो जाए और तब ग्रह-नक्षत्रों का वास्तविक अस्तित्व क्या है इसका पता लगाने की दिशा में चलते हुए प्रयास जहाँ के तहाँ रुक जाएँ और तब आगे भी कभी यह जान सकने की संभावना सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो जाए कि आखिर इन मंगल, चंद्र अथवा बुध आदि ग्रहों पर क्या है ? इनका वास्तविक अस्तित्व क्या है ? क्या इन पर भी उसी

प्रकार जीवन का अस्तित्व हो सकता है, जिस प्रकार कि हमारी पृथ्वी पर ? यदि इनमें जीवन है तो वहाँ के जीव किस प्रकार के हैं ? उनका कार्य क्या रहता है ? वे हम मानवों जैसे कर्म प्रधान मर्त्य हैं अथवा भोग प्रधान अमर्त्य ? क्या हम मानवों की भाँति वहाँ पर भी मनुष्य पाए जाते हैं और क्या वे हमारी तरह ही आत्मा परमात्मा और पुरुष प्रकृति पर विचार करते हैं ? उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण क्या हो सकता है ? उनकी साधन पद्धति क्या होगी ? मनुष्य की भाँति उनके परम लक्ष्य मोक्ष की क्या परिभाषा होगी उनकी भाषा क्या होगी और न जाने उनका साहित्य, सभ्यता, संस्कृति, कला-कौशल शिल्प एवं रहन सहन किस प्रकार का होगा ? उसमें और हम भूमिवासियों में क्या समानता और क्या अंतर होगा ?

आज मनुष्य का अंतरिक्ष ज्ञान जिस सीमा तक पहुँच चुका है जिज्ञासा के अभाव में वह उसके आगे फिर न जा सकेगा। आज जिस अणु शक्ति को मनुष्य ने खोजकर आज्ञारत बना लिया है कल इस महाशक्ति को वह आगे बढ़ा सकता है ऐसी आशा नहीं रह सकती।

यही नहीं कि जिज्ञासा के अभाव में मनुष्य का बढ़ता हुआ ज्ञान जहाँ का तहाँ रुक जाएगा बल्कि वह धीरे-धीरे नष्ट भी हो जाएगा और आज का विकसित मनुष्य कुछ ही दिनों में फिर से कोरमकोर हो जाएगा। जिज्ञासा के आधार पर ही तो मनुष्य एक-दूसरे से ज्ञान ग्रहण कर आगे बढ़ाता है। जब किसी में कुछ जानने, सीखने अथवा ग्रहण करने की उत्सुकता ही न रहेगी तब वह क्यों व्यर्थ में किसी विषय पर माथा-पच्ची करेगा ?

आज भी जिनमें जिज्ञासा का प्राधान्य होता है। ज्ञान के क्षेत्र में वे ही आगे निकल पाते हैं। यदि जिज्ञासा की मात्रा में अंतर न होता तो सभी एक जैसे समान स्तर के ज्ञानी, दार्शनिक, आध्यात्मिक, कवि, कलाकार, शिल्पी एवं वैज्ञानिक व अन्वेषक होते। यदि जिज्ञासा के अभाव में यह सब संभव हो सकता तो संसार का प्रत्येक मनुष्य विद्यावान् एवं वैज्ञानिक हो सकता था। मनुष्य में ज्ञान का कम-ज्यादा होना भी जिज्ञासा की मंदता अथवा तीव्रता पर ही निर्भर करता है।

जो जिज्ञासु हैं वही गहरे पैठता है। जिज्ञासु की दृष्टि सामान्य लोगों से कुछ अधिक पैनी और खोजक होती है। किसी एक दृश्य

अथवा घटना को कोई सामान्य व्यक्ति देखता है तो वह उसके लिए एक साधारण बात होती है किंतु जब उसी विषय पर किसी जिज्ञासु व्यक्ति की दृष्टि पड़ जाती है तो वही साधारण बात कोई दार्शनिक अथवा कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति पाकर असाधारण बन जाती है। जिज्ञासु के लिए संसार की हर घटना एक रहस्य एवं एक महत्त्व लिए रहती है! एक रसोइये के लिये भाप से बटलोई का ढक्कन उछलना नित्य-प्रति की सामान्य बात रहती है किंतु स्टीविंसन के लिए भाप से ढक्कन का उठना-गिरना एक असाधारण रहस्य की बात बनकर इंजिन के आविष्कार का हेतु बनी ! एक माली के लिए पेड़ से फल गिरना सामान्यतम घटना है किंतु उसके आधार पर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धांत के आदि गुरु 'न्यूटन' के लिए वह असाधारण महत्त्व की बात थी। इतनी असाधारण कि आगे चलकर उसी आधार सूत्र के बल पर अधर में लटके इस ब्रह्मांड के हर ग्रह-नक्षत्र की चाल तथा अवस्थन का रहस्य मालूम कर लिया गया।

जिज्ञासा ज्ञान की महान् जननी है। जिसने जो कुछ जानना चाहा उसे जानकर ही छोड़ा। प्रत्यक्ष में जानने का कोई सूत्र न होने पर भी जिज्ञासा मनुष्य को स्वयं से उसी प्रकार सूत्र निकाल कर दे देती है जिस प्रकार मकड़ी अपने अंतर से जाल तंतु निकाल लेती है। गहन से गहन अपराधों को, कोई आधार न होने पर भी जासूस जिज्ञासा की तीव्रता के बल पर ही पता लगा लेते हैं। जिज्ञासा के बल पर ही मनुष्य ने शरीर विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भूगोल एवं खगोल विद्याओं का ही नहीं, अपने आंतरिक एवं आत्मिक रहस्यों को भी हस्तगत कर लिया है। मनुष्य की जिज्ञासु बुद्धि उस चींटी की तरह सतत् प्रयत्निका होती है, जो सात परदों में छिपी हुई शक्कर को खोजकर ही दम लेती है। जिज्ञासु बुद्धि का सहज गुण होता है कि जब तक वह लक्षित रहस्य को खोज नहीं लेती, संतुष्ट नहीं होती। दिन-रात उसके पीछे लगी रहती है।

एक ही मिट्टी से बने हुए एक जैसे हाथ-पैर समान स्थिति के मनुष्यों में से जो आगे निकल गया है, ऊँचा चढ़ गया है और दूसरा जहाँ का तहाँ ही रह गया है, उसका कारण जिज्ञासा का भाव ही होता है। निश्चय ही आगे निकल जाने वाले व्यक्ति में जिज्ञासा की प्रबलता रही होती है, जबकि फिसड्डी में उसका अभाव होता है। जो

जिज्ञासु हैं, कुछ जानना और सीखना चाहता है, वह तो जाने सीखेगा ही और उसी आधार पर आगे भी बढ़ेगा। जिसमें कुछ सीखने तथा जानने अथवा पाने की जिज्ञासा ही न होगी, जहाँ का तहाँ जड़ की तरह पड़े रहने में संतुष्ट रहेगा। प्रगतिशीलता उसके लिए अनहोनी बात ही रहेगी।

कक्षा में शिक्षक पढ़ाता है, पचासों लड़के सुनते हैं किंतु उनमें से दस कुछ प्राप्त कर लेते और चालीस ज्यों के त्यों रह जाते हैं। इसका कारण यही होता है कि उन दस में जिज्ञासा की प्रबलता थी, जबकि शेष चालीस में नहीं थी। जिज्ञासु की बुद्धि बड़ी ही ग्रहणीय होती है, वह एक बार में ही कोई बात देख-सुनकर ग्रहण कर लेती है और फिर कभी उसे भूलती नहीं, अजिज्ञासु बुद्धि बड़ी ही कुंद एवं कुंठित होती है। हजार बार सुनने, देखने और पढ़ने पर भी वह न तो किसी बात को ठीक से समझ पाती है और न याद ही रख पाती है। जिज्ञासा का अभाव मनुष्य को बड़ा ही मंद बुद्धि बना देता है।

एकाग्रता, तन्मयता एवं तल्लीनता के साथ विषय प्रवेश जिज्ञासु व्यक्ति के विशेष गुण होते हैं। जिज्ञासु जिस नवीन बात अथवा चीज को देखता है, उसमें एकाग्र होकर तल तक पैठ करने का प्रयत्न किया करता है, जिज्ञासु व्यक्ति का दैनिक ज्ञान अजिज्ञासु की अपेक्षा बहुत कुछ तरोताजा रहता है, एक ही स्थिति के दो मित्रों में से एक देश-देशांतरों की गतिविधि से अधिक प्रामाणिक रूप में अभिज्ञात रहता है, जबकि दूसरे को अपने पास-पड़ौस की घटनाओं का भी ज्ञान नहीं रहता। यह अंतर उनकी अपनी जिज्ञासा के स्तर के कारण ही होता है।

जिज्ञासु व्यक्ति किसी बात के हर पहलू को जानने एवं समझने का प्रयत्न किया करता है और यथा संभव अवश्य ही जानबूझ लेता है जबकि अजिज्ञासु व्यक्ति केवल तात्कालिक उपयोग के पहलू के संक्षिप्त ज्ञान से ही संतुष्ट हो जाता है। इस संबंध में एक छोटी-सी कहानी प्रसिद्ध है, जिससे पता चलता है कि जिज्ञासु व्यक्ति कितना चतुर एवं उपयोगी होता है ?

एक बादशाह का एक बहुत ही मुँह लगा नौकर था। वह दिन-रात बादशाह की सेवा में लगा रहता था। एक दिन उसे विचार आया कि वह बादशाह की सेवा में दिन-रात लगा रहता है, तब भी

उसे केवल पाँच रुपये ही मिलते हैं और आपका मीरमुंशी जो कभी कुछ नहीं करता पांच सौ रुपये वेतन पाता है। इस भेद का क्या परिणाम है ? बादशाह ने हँसकर कह दिया किसी दिन मौके पर बतलाऊँगा।

एक दिन एक घोड़ों का काफिला उसकी सीमा से गुजरा। बादशाह ने अपने सेवक को भेजा कि जाकर मालूम कर यह काफिला कहाँ जा रहा है ?

नौकर गया और आकर बतलाया कि हुजूर वह काफिला सीमा के कंधार देश जा रहा है।

अब बादशाहं ने मीर मुंशी को भेजा। उसने आकर बतलाया कि यह काफिला काबुल से आ रहा है और कंधार जा रहा है। उसमें पाँच सौ घोड़े और बीस ऊँट भी हैं। मैंने अच्छी तरह पता लगा लिया है कि वे सब सौदागर हैं और घोड़े बेचने जा रहे हैं। इस समय उन्हें पैसे की सख्त जरूरत है यदि हुजूर कुछ घोड़े खरीदना चाहें तो कम कीमत पर मिल सकते हैं। मैंने पचास ऐसे घोड़ों को छाँट लिया है, जो नौजवान और बड़ी ही उत्तम जाति के हैं। बादशाह ने तुरंत ही पचास घोड़े खरीद लिए जिससे उसे कम दामों पर अच्छे घोड़े मिल गये। काफिले के विषय में चिंता जाती रही और उन परदेशी सौदागरों पर बादशाह की गुण ग्राहकता का बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। बादशाह ने नौकर से कहा देखा तुम्हें पाँच रुपये क्यों मिलते हैं और मीर मुंशी को पाँच सौ क्यों ? नौकर ने इस अंतर के रहस्य को समझा और सदा के लिए सावधान हो गया।

जिज्ञासु व्यक्ति किसी भी बात की तह तक बैठकर उसमें से किसी न किसी प्रकार की उपयोगिता खोज लाता है ? जिज्ञासा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चारों उन्नतियों की हेतु होती है। मनुष्य को अपनी जिज्ञासा को प्रमादपूर्वक नष्ट नहीं करना चाहिए। उसे विकसित एवं प्रयुक्त करना चाहिए और जिसमें जिज्ञासा नहीं है, उसे चाहिए कि वह तन्मय एवं गहरे पैंठने के अभ्यास से उसे पैदा करे, क्योंकि जिज्ञासा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों महान क्षेत्रों में प्रगति एवं उन्नति का आधार बनती है।

जागृत जिज्ञासा ही आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास का संबल एवं आधार बनती है। स्वाध्याय मात्र बौद्धिक विकास के लिए ही

नहीं, आत्मिक विकास के लिए भी आवश्यक है। योग साधना में भी स्वाध्याय साधना का अभिन्न अंग है। वह शौच, संतोष, तप एवं ईश्वराराधन इन चार के समान महत्त्वपूर्ण पाँचवाँ नियम है।

स्वाध्याय से मात्र बुद्धि बल ही नहीं बढ़ता, आत्मबल की वृद्धि की अंत:प्रेरणा भी प्राप्त होती है। आस्थाओं के अभिवर्धन एवं दृढ़ीकरण के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है।

एक बार एक मित्र ने सर जॉन हर्शल नामक प्रख्यात परिश्रमीय विद्वान से प्रश्न किया—"आपको सृष्टि में सर्वोत्तम वस्तु कौन-सी लगी" तो उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

"भाँति-भाँति के संयोग-वियोग आए पर वह दृढ़तापूर्वक मेरे साथ जीवन के सुख और आनंद का झरना बने रहे। मेरे खिलाफ हवा चले, लोग मुझे बुरा कहें, धिक्कारें, रास्ता रोकें उस समय मुझे बेपरवाह बना दें। जीवन से दु:खों में मेरी ढाल बन जाए। ईश्वर से प्रार्थना करने का अवसर मुझे मिले तो मैं निवेदन करूँगा हे प्रभु ! मुझे विद्या पढ़ते रहने की रुचि दें। ज्ञान के धार्मिक महत्त्व को घटाए बिना यहाँ मैंने केवल उसके सांसारिक लाभ बताए हैं। विद्या की अभिरुचि कैसी आनंददायिनी है, संतोष का कैसा उन्मुक्त साधन है इतना ही मैंने यहाँ स्पष्ट किया है।"

यदि मनुष्य का जीवन सामान्य भोगोपभोग और सामाजिक जीवन के कुछ ही स्तर पर ऊँचा चढ़ने में बीता, तो सारा मनुष्य जीवन तुच्छ गया यह समझना चाहिए, महानता की उच्च सीढ़ी पर प्रतिष्ठित होना चाहिए, ज्ञान ही उसका आधार है।

विद्वान किंग्स्ले ने एक स्थान पर लिखा है—ज्ञान से ही मनुष्य में ऊँचे उठने की पात्रता आती है, सुख और वैभव भी ज्ञान के बिना नहीं मिलते फिर आध्यात्मिक आनंद तो उसके बिना मिलेगा ही कैसे ? ईश्वर तक कोई चीज पहुँचा सकती है तो वह विद्या ही हो सकती है।

संसार विलक्षण है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु विलक्षणता से परिपूर्ण है। संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो आश्चर्यों के प्रति आकर्षित न होता हो। इस सृष्टि की रचना क्यों की गई और हमारा उसके प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हम शरीर क्यों धारण किये हुए हैं ? यह प्रश्न जानने बड़े जरूरी हैं, इसके लिए हमें अपनी धार्मिक वृत्ति को

तेजस्विनी बनाकर आध्यात्मिक तत्त्व की खोज करनी चाहिए। ज्ञान ही धार्मिकता के साथ मिलकर विद्या कहलाती है, यह विद्या ही मनुष्य को बंधनों से मुक्त कराती है।

जिन-जिन महापुरुषों ने बड़े-बड़े काम किए हैं, उन्होंने वे काम समय का सदुपयोग, विद्याध्ययन और बौद्धिक प्रतिभाओं के विकास के द्वारा ही किए हैं। दिन भर में चौबीस घंटे होते हैं। आठ घंटे सोने और आठ घंटे काम करने के लिए निकाल दिए जाएँ तो अन्यान्य विकास कार्यों अथवा मनोरंजन के लिए आठ घंटे बचते हैं। विद्याध्ययन सर्वोत्तम मनोरंजन है यदि इसके लिए प्रति दिन दो घंटे का भी समय दिया जा सके तो संसार की अनेक वस्तुओं, परिस्थितियों, समस्याओं, जीवों, जीव-वृत्तियों, तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बढ़े हुए ज्ञान की पूँजी से सांसारिक सुख भी भुनाए जा सकते हैं और पारलौकिक अनुभूतियों का सुख भी प्राप्त कर सकता है।

पहले लोगों में स्वाध्याय की स्वाभाविक वृत्ति हुआ करती थी—"काव्य शास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्" का सिद्धांत प्रायः सभी मानते हैं। भारतीय संस्कृति की प्रतीक "देवी सरस्वती" स्वयं विद्या अथवा ज्ञान का ही स्वरूप है। लोग उनकी आजीवन उपासना किया करते थे और इस प्रकार बिना श्रम संसार समुद्र से पार उतर जाया करते थे।

अब स्थिति तब से भिन्न है। विद्यार्थी विद्यालय की शिक्षा समाप्त होते ही पुस्तकों को दूर रख देते हैं और उनकी ओर देखते भी नहीं। समस्याओं का उग्र होना शिक्षा की कमी नहीं बल्कि ज्ञान के अभाव के कारण है। ज्ञान मनुष्य की वृत्तियों को सतोगुणी बनाता है। विद्या मनुष्य को सौम्य, विनम्र और उदार बनाती है। जहाँ उसकी प्रतिष्ठा होगी तो वहाँ कलह और उपद्रव होंगे क्यों ? समस्याएँ खड़ी होंगी क्यों ? समस्याओं का अंत करने के लिए सबसे पहले विद्या बल बढ़ाना होगा। उसके लिए अधिक से अधिक साधन जुटाना होगा।

लोग अभाव और आर्थिक परिस्थितियों को कारण बताया करते हैं। कुछ लोगों को समय न होने की भी शिकायत होती है। मूल बात यह है कि ऐसे व्यक्तियों को विद्याध्ययन का न तो महत्त्व ही मालूम

होता है और न उसकी रुचि ही होती है। अनेक दृष्टांतों से यह सिद्ध हो चुका है कि गरीबी विद्याभ्यास में बाधक नहीं है। पब्लियस, साइरस, इसप, किलैंथिस, बुकर टी. वाशिंगटन और टेरंस आदि प्रतिभाशाली विद्वानों का प्रारंभिक जीवन बड़ी ही कठिनाइयों में बीता है तो भी उन्होंने ज्ञानार्जन की महत्ता प्रतिपादित कर दिखाई है। एपिक टेटस १० वर्ष गुलाम रहा था उसके मालिक ने उसका पैर ही तोड़ दिया था किंतु बाद में उसने अपनी झोपड़ी में बैठकर शास्त्रों का स्वाध्याय किया और विद्वता उपलब्ध की। रोम के तत्कालीन सम्राट आड्रियान भी उसके पांडित्य का लोहा मानते हैं।

पाइथागोरस ज्यामितिशास्त्र का प्रकांड विद्वान् हुआ है, वह जीवनशास्त्र और नैतिक दर्शन का भी पंडित था। बहुत कम लोग जानते होंगे कि वह जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाता था और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाता था।

टस्कनी की टुयोरेंटाइन एकेडेमी कौंसिल के उच्च और महान् प्रतिष्ठा के पद पर नियुक्त होने वाला प्रसिद्ध इटालियन लेखक जेली जात का दर्जी था। उसने इतने ऊँचे पद पर पहुँच जाने पर भी अपना धंधा दर्जीगीरी बंद नहीं किया। वह कहा करते थे, "मैंने इसी व्यवसाय के सहारे विद्या पाई है मुझे ज्ञान से इतना प्रेम हो गया है कि अपनी इसी आजीविका के सहारे मृत्युपर्यंत ज्ञानार्जन करते रहने की हार्दिक अभिलाषा है।

इटली का मेटास्टासिओ जब बालक था तो शहर की सड़कों में गाने गाया करता था। उससे जो पैसे मिलते थे उनकी किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ खरीदकर अधिकांश समय पढ़ने में लगाया करता था। अंत में उसकी भावना सिद्ध हुई और वह एक दिन इटली का मशहूर कवि हुआ डॉ० जॉन प्रीडा जो बुर्स्टर के पोप नियुक्त हुए थे, उन्हें पढ़ने की अभिलाषा इतनी तीव्र हुई कि वह ऑक्सफोर्ड तक पैदल चलकर गए। फीस और खाने के लिए कोई सहारा नहीं था इसलिए वह कालेज के होटल में काम करने वाले रसोइए की मदद करते थे उसी से उन्हें इतने पैंसे मिल जाते थे जिससे किसी तरह फीस और रोटी का साधन बन जाता था। वनस्पतिशास्त्र के जन्मदाता मीनियस भी इसी तरह एक मोची के पास काम करते हुए पढ़े थे।

यह उदाहरण इसलिए दिए गए हैं कि आर्थिक स्थिति विपरीत हो तो भी ज्ञान की आराधना की जा सकती है। पेट पालने के लिए कोई भी साधारण काम किया जा सकता है पर ज्ञान की उपयोगिता और आवश्यकता देखते हुए उसका परित्याग करना अथवा उधर से मुख मोड़ना अपने लिए ही हानिकारक होता है। ज्ञान मनुष्य की शोभा है। ज्ञान ही धन और ज्ञान ही जीवन है उसके लिए किया गया कोई भी बलिदान व्यर्थ नहीं जाता।

हम उस आध्यात्मिक आवश्यकता को भूल गए हैं। विद्या आत्मकल्याण का साधन है पर अब उसे अर्थोपार्जन का माध्यम बनाकर पंगु कर दिया गया है इसलिए हम नैतिक, आत्मिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में पिछड़ गए हैं। यह उपलब्धियाँ अब हमें तभी मिल सकती है जब ज्ञान को उचित प्रतिष्ठा दी जाए उसके लिए सर्वस्व, न्यौछावर की भावना बनाई जाए।

सर्वोत्तम विभूति-विद्वता—

शास्त्रकार ने संदेश दिया है—

गतेऽपि वयसि गाह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः।
यद्यपि स्यान्न फलदा सुलभा सान्यजन्मनि ।।

"हे मनुष्यो ! उम्र बीत जाने पर भी यदि विद्या प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो तो तुम निश्चय ही बुद्धिमान हो। विद्या इस जीवन में फलवती न हुई तो भी दूसरे जन्मों में वह आपके लिए सुलभ बन जाएगी।" मनुष्य का सबसे बड़ा विवेक, गौरव और उसकी विभूति उसकी विद्वता है, इससे बढ़कर और कोई संपत्ति इस संसार में नहीं है।

विद्या शब्द ज्ञान की सार्थकता का पर्याय है। जो ज्ञान मनुष्य की लौकिक-बंधनों से मुक्त करे और उसे जीवात्मा की वस्तु स्थिति की बूझ कराए वस्तुतः वही विद्या सार्थक है। दुःख-क्लेश और अभाव हमें तब तक पीड़ित करते हैं, जब तक आत्म-स्वरूप का हमें ज्ञान नहीं होता। विद्या के प्रकाश में सब कुछ ऐसे झलकने लगता है जैसे सूर्य के प्रकाश से सारा संसार जगमग हो उठता है। मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी इसलिए धन नहीं, सत्ता और रूप सौंदर्य भी नहीं है। विद्या, बुद्धि, सद्ज्ञान, सद्बुद्धि और विवेक के मापदंड से ही व्यक्तित्व की श्रेष्ठता की परख होती है। बुद्धिमान ही सच्चे धनी होते

हैं, विद्या ही सच्चा धन है योग्यता, विद्वता और प्रतिभा ही बड़प्पन की कसौटी है।

महान् पुरुष सदैव ऐसे ही अधिकारी पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं, जिन्हें विद्या के माध्यम से ही प्रवीणता प्राप्त हुई हो। महाराज धृतराष्ट्र को कौरवों तथा पांडवों को शस्त्र-प्रशिक्षण के लिए किसी सुयोग्य आचार्य की आवश्यकता थी किंतु कोई विद्वान् राजगुरु उन्हें दिखाई न दिया। एक दिन द्रोणाचार्य भी उनकी सभा में आए धनुर्विद्या में प्रवीण आचार्य का पांडित्य देखकर महाराज मुग्ध हो गए और उन्होंने समझ लिया कि इनके समीप रहकर बालकों के चरित्र का विकास हो सकेगा। अकेले शस्त्र प्रशिक्षण की बात रही होती तो वह कार्य कोई भी कर सकता था। नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए विद्वता भी तो आपेक्षित है।

प्राचीन काल में अध्यापन कार्य इसीलिए सबसे कठिन कार्य माना जाता था और कोई विद्वान् पुरुष ही शिक्षक बनने का साहस कर सकते थे। ऐसे व्यक्तियों को शिक्षण का कार्य सौंपा जाता था जो अक्षर ज्ञान के साथ मनुष्य की प्रतिभा विकसित करने के लिए समर्थ होते थे। वह वस्तु विद्या ही है जो मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती और ऊँचा उठाती है। गिरे हुए समाज के उद्धार के लिए भी विद्या एक अनिवार्य आवश्यकता है।

आधुनिक विद्या का स्वरूप कुछ बदल गया है, वह पूर्णतया अशक्त हो चुकी है। दोनों का चरित्र-बल, कर्म शक्ति, आशा, विश्वास, उत्साह, पौरुष, संयम और सात्विकता जागृत करने की शक्ति उसमें नहीं रही। जिस विद्या में कर्त्तव्य-शक्ति को प्रेरणा न मिलती हो, स्वतंत्र रूप से विचार करने की बुद्धि न आती हो, परिस्थितियों से टकराने की सामर्थ्य जो न दे सके वह विद्या निस्तेज है, निष्प्राण है। आज का युग कुछ ऐसा ही हो रहा है। विद्यार्थी डिग्रियाँ प्राप्त करके निकलते हैं तो उनमें छल-कपट धूर्तता, दुश्चरित्रता, फैशन परस्ती, बिलासिता और द्वेष, अहंकार के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। स्वतंत्र चिंतन का उनमें बिलकुल अभाव होता है। विचारों की पराधीनता का नाम अविद्या है। जो

मनुष्य को स्वाधीन बनाए सर्वोपरि साहसी बनाए, विद्या कहलाने का गौरव उसे ही मिल सकता है।

अध्यात्म रामायण में बड़े सुंदर शब्दों में उल्लेख मिलता है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्यति मन्यते।।

अर्थात्—"मैं देह हूँ" इस बुद्धि का नाम अविद्या है। मैं देह नहीं चेतन आत्मा हूँ इसका ज्ञान प्राप्त करना ही सच्ची विद्या है।

देह, उसकी विशेषताएँ और उसके सुखों के प्रति जब मनुष्य की चेतना एकमुखी हो जाती है तो उसकी प्रतिभा का विकास रुक जाता है। विकास का अर्थ इहलौकिक संपदाओं की विपुलता प्राप्त कर लेना नहीं है, वह विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक जागृति का लक्षण है। मनुष्य का स्वत्व है उसकी आत्मा और उसकी विशेषताएँ—सद्गुण, सद्प्रवृत्ति और सदाचार। आत्मा की इन विशेषताओं को उपलब्ध करना ही इस जन्म का उद्देश्य है और जो इस दिशा में हमारी चेतना को अग्रसर करे वही सच्ची विद्या है।

यह ज्ञान वैदिक साहित्य में कूट-कूट कर भरा है किंतु बाह्य शक्तियों के संघात के कारण परिस्थितियाँ ऐसी बन गई हैं कि यह वाड्मय आधुनिक शिक्षा के मलबे में दबकर रह गया है। इससे जीवन का आध्यात्मिक क्षेत्र बिलकुल उपेक्षित बनकर रह रहा है। सर्वत्र दुःख-क्लेश और अशांति के लिए इस युग का भौतिकतावादी दृष्टिकोण ही अधिक दोषी है। एक कठिनाई यह है कि इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत करने के प्रयत्न भी बिलकुल निर्बल और कमजोर हो गए हैं, जहाँ-तहाँ कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ चलती भी हैं किंतु व्यक्तित्व के अभाव के कारण वह प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता जो जन-जीवन की दिशा बदल सके। भारतीय संस्कृति का पतन भी व्यक्तित्व के अभाव में ही हुआ है। देवालयों, शिक्षालयों बिहार श्रामण और संघों से लोगों की आस्था उठ जाने का कारण यही था कि उनमें व्यक्तित्व न रहा। देव-मंदिर जड़ थे भला वे, सांस्कृतिक शक्तियों के संघर्ष का जवाब कैसे दे सकते थे ? इससे धर्म के प्रति लोगों की आस्था उठ गई और सर्वत्र अविद्या का ही अंधकार छाकर रह गया।

वह विद्या जो मनुष्य को सही दिशा सही मार्ग और सच्चा प्रकाश दिखाती है उसे अध्यात्म कहते हैं। इस अध्यात्म को जागृत करने का काम अपने आपसे शुरू करना होगा इसके लिये विद्वता प्राप्त करना हमारी पहली आवश्यकता है। दुनियावी शिक्षा के रंग-ढंग तो बहुत देख चुके इनसे कोई समस्या हल न हो सकी। निष्कर्ष निकलता भी कैसे ? आत्म-ज्ञान के बिना परिस्थितियाँ बदल भी तो नहीं सकती। विवेक जगाने वाली विद्या न रही तो पतित होना स्वाभाविक ही था। इसी पतन से जी उकता उठा है, प्रत्येक साँस के साथ जो गंदगी भीतर जा रही है, उसके कारण अब जन-जीवन बुरी तरह बेचैन है, छटपटा रहा है। इस घुटन को दूर करने का एक ही उपाय है और वह है आध्यात्म विद्या की प्रवीणता। साधना से और व्यवहार से जब तक जीवन की दिशा सात्विक नहीं होती, गुण, कर्म और स्वभाव में सद्तत्त्वों का समावेश नहीं होता, जड़ता तब तक दूर हो नहीं सकती। आत्म-विद्या के देवालय में प्रवेश प्राप्त किए बिना न तो शांति मिल सकती है न संतोष। विद्या सुखी जीवन की प्रमुख आवश्यकता है इसे यों ही ठुकराया नहीं जा सकता।

जिस विद्वता से मनुष्य स्वयं ही अपना योग्य साथी बनता है उसे प्राप्त करने के लिए अधिक अनुभव, सहनशीलता और अध्ययन की आवश्यकता है। अनुभव का उपयोग जीवन को शुद्ध बनाने के लिए है, कदम-कदम पर जो कठिनाइयाँ मनुष्य का रास्ता रोकती हैं, उनसे बचते रहने का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुभवी होना है। अनुभव विवेक का बड़ा भाई है, सत्य-असत्य की शिक्षा उसी से मिलती है इसलिए प्रत्येक गतिविधि को एक पाठ समझकर उसकी विलक्षणताओं का अध्ययन सूक्ष्मता से करते रहना चाहिए। असंगत वस्तुओं का ज्ञान इसी तरह होगा।

विद्या आत्मा की प्यास है। इसकी पूर्णाहुति आत्मज्ञान से ही होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि अपने जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए विद्या की प्रमुख आवश्यकता है। कठोर प्रयत्नों से भी इसे प्राप्त किया जाना चाहिए। जो इसकी ओर ध्यान नहीं देता और अपने समय को व्यर्थ ही नष्ट किया करता है, वह सदा मनुष्य जन्म के फल से वंचित रहता है। विद्या मनुष्य की मलिनताओं को मिटाकर उसे उज्ज्वल बनाती है। आग में तपाए हुए सोने की शुद्धता में कोई

संदेह नहीं रहता। आत्मज्ञान का लक्षण विद्वता है, वह मनुष्य की सर्वोत्तम विभूति है, उसे प्राप्त करने का हर संभव प्रयास करना चाहिए। विद्या से विनम्रता आती है, विनम्रता से योग्यता बढ़ती है, योग्यता से धन और धन से सुख मिलता है। यह आप्त पुरुषों का कथन है। हमें भी इस सुख से वंचित न रहना चाहिए।

स्वाध्याय तपः—

गंगा तट पर स्थित महर्षि रैभ्य के आश्रम में कई ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे। नीति, धर्म और सदाचार का अभ्यास करने के साथ-साथ शास्त्र विद्या में भी पारंगत होकर वे समाज में जाते तथा सुयोग्य नागरिक की भूमिका निभाते थे। वहीं पास में एक और तापस रहते थे जो दिन-रात कठोर साधनाओं में लगे रहते। उन तापस का एक पुत्र था यवक्रीत—वह भी अपने पिता के समान ही जप-तप में लगा रहता। परंतु यवक्रीत की यह भी आकांक्षा थी कि वह वेद-वेदांतों का ज्ञाता, शास्त्रों में निष्णात् और पंडित बने।

इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए यवक्रीत ने अपने तापस पिता से पूछा। पिता ने कहा—"वत्स ! विद्या प्राप्ति का तो एक ही उपाय है। स्वाध्याय किया जाए।"

परंतु तात उससे तो दीर्घकाल में सिद्धि होती है—यवक्रीत ने कहा।

यह साधक की अपनी लगन, योग्यता और ग्रहणशीलता पर निर्भर है, तापस ने कहा—'फिर भी इनके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।'

यवक्रीत चुप हो गया, परंतु उसके मन में यह बात ठीक से समझ नहीं आई कि एकमात्र अध्ययन ही ज्ञान प्राप्ति का साधन है। हो भी तो उसे यह बहुत लंबा और श्रम साध्य लगा, इसलिए यवक्रीत ने तप द्वारा विद्या प्राप्ति के लिए अपने पिता के पास से प्रस्थान किया। फिर एकांत स्थान में जाकर यवक्रीत तप करने लगा। पंचाग्नि तप करते हुए यवक्रीत अपने शरीर को निरंतर संतप्त करने लगे।

यवक्रीत को कठोर तप करते देखकर देवराज इंद्र उनके पास आए और उनसे तप का कारण पूछा। यवक्रीत ने बताया—"गुरु के मुख से वेदों की शिक्षा ठीक तरह से प्राप्त नहीं की जा सकती।

इसके लिए मैं तप के प्रभाव से ही संपूर्ण वेदशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।"

उपयुक्त गुरु न मिले यह बात तो समझ में आती है, परंतु गुरु के बिना ही कोई ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए यह तो नितांत असंभव है। आपने सर्वथा उल्टा मार्ग पकड़ा है विप्रवर ! गुरु के पास जाकर अध्ययन कीजिए।

इंद्र तो चले गए, किंतु यवक्रीत ने अपनी तपस्या नहीं छोड़ी कुछ वर्षों बाद इंद्र फिर आए और पुनः समझाने लगे 'ब्राह्मण श्रेष्ठ ! आपका यह उद्योग बुद्धिमत्ता युक्त नहीं है। किसी को गुरुमुख से पढ़े बिना विद्या प्राप्त भी हो तो वह सफल नहीं होती। आप अपने दुराग्रह को छोड़ दीजिए।'

इतना कहकर इंद्र चले गए, परंतु यवक्रीत ने अपना हठ नहीं छोड़ा। उन्होंने और कठिन तप आरंभ कर दिया। यवक्रीत का संकल्प था कि वह तपस्या से ही विद्या प्राप्त करके रहेगा। इस प्रकार सिद्धि प्राप्त न होते देख यवक्रीत ने निश्चय किया कि यदि इस अनुष्ठान से विद्या की सिद्धि नहीं हुई तो वह गंगा में अपने शरीर को प्रवाहित कर देंगे। यह निश्चय कर वे एक विशेष तप-अनुष्ठान पर बैठे। यवक्रीत के इस निश्चय को जानकर देवराज इंद्र ने एक अत्यंत वृद्धा एवं रोगी ब्राह्मण का रूप धारण किया तथा उसे स्थान पर आकर बैठ गए, जहाँ यवक्रीत स्नान करने के लिए आया करते थे।

यवक्रीत जब स्नान करने आए तो उन्होंने देखा कि एक दुर्बल और रोगी ब्राह्मण अंजलि में बार-बार रेत लेकर गंगा में डाल रहा है। प्रथम द्वितीय बार तो यवक्रीत ने कुछ नहीं कहा, पर जब चार-पाँच दिन तक यवक्रीत ने उस ब्राह्मण को ऐसा करते देखा तो पूछ ही बैठा—'विप्रवर ! आप यह क्या कर रहे हैं ?'

'लोगों को यहाँ गंगा के उस पार जाने में बड़ा कष्ट होता है'—वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—'इसलिए मैं गंगा पर पुल बाँध देना चाहता हूँ।'

यवक्रीत ने कहा—भगवन् ! आप इस महाप्रवाह को बालू से किसी प्रकार बाँध नहीं सकते ? इसलिए असंभव उद्योग को छोड़कर संभव प्रयास कीजिए।'

"आप जिस प्रकार तपस्या के द्वारा विद्या सिद्ध करना चाहते हैं उसी प्रकार मैं भी यह कार्य कर रहा हूँ। आप असाध्य को यदि साध्य कर सकेंगे तो मैं क्यों नहीं कर सकूँगा"—वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण किये इंद्र ने कहा।

ब्राह्मण कौन है यह यवक्रीत समझ गए और वे महर्षि रैभ्य के आश्रम में जाकर स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्ति की साधना में संलग्न हो गए।

ज्ञान ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति—

ज्ञान को ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति माना गया है। वास्तविक वस्तु वह है जो सदैव रहने वाली हो। संसार में हर वस्तु काल पाकर नष्ट हो जाती है। धन नष्ट हो जाता है, तन जर्जर हो जाता है, साथी और सहयोगी छूट जाते हैं। केवल ज्ञान ही एक ऐसा अक्षय तत्त्व है, जो कहीं भी किसी अवस्था और किसी काल में मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता।

धन, जन को भी मनुष्य की एक शक्ति माना गया है। किंतु यह उसकी वास्तविक शक्तियाँ नहीं हैं। इनका भी मूल स्रोत ज्ञान ही है। ज्ञान के आधार पर ही धन की उपलब्धि होती है और ज्ञान के बल पर ही समाज में लोगों को अपना सहायक तथा सहयोगी बनाया जाता है। अज्ञानी व्यक्ति के लिए संसार की कोई वस्तु संभव नहीं। धन के लिए व्यापार-व्यवसाय किया जाता है, नौकरी और शिल्पों का अवलंबन किया जाता है, कला-कौशल की सिद्धि की जाती है। किंतु इनकी उपलब्धि से पूर्व मनुष्य को इनके योग्य ज्ञान का अर्जन करना पड़ता है। यदि वह इन उपायों के विषय में अज्ञानी बना रहे तो किसी भी प्रकार इन विशेषताओं की सिद्धि नहीं कर सकता और तब फलस्वरूप धन से सर्वथा वंचित ही रह जाएगा।

यही बात जन शक्ति के विषय में भी कही जा सकती है। जन-बल को भी अपने पक्ष में करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। जब किसी को जनमानस का ज्ञान होगा, उसकी आवश्यकताओं और समस्याओं की जानकारी होगी, उसे सत्पथ दिखला सकने की योग्यता होगी, उसके दुःख-दर्द और कष्ट-क्लेशों के निवारण कर सकने की बुद्धि होगी, तभी जन बल पर, अपनी छाप छोड़कर उसे अपने पक्ष में किया जा सकता है। जनता का सहज स्वभाव होता है

कि वह अपने सच्चे हितैषी का ही पक्ष धारण किया करती है। जनता का हित किस बात में है और संपादन किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हुए बिना ऐसा कौन है, जो जन-बल को अपनी शक्ति बना सके। जन-बल का उपार्जन भी ज्ञान द्वारा ही संभव हो सकता है।

किसी शक्ति के उपलब्ध हो जाने के बाद भी उसकी रक्षा और उसके दुरुपयोग के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान के अभाव में शक्ति का होना न होना बराबर होता है। उसका कोई लाभ अथवा कोई भी आनंद नहीं उठाया जा सकता। उदाहरण के लिए मान लिया जाए कि कोई उपार्जन अथवा उत्तराधिकार में बहुत-सा धन पा जाता है या किसीं संयोगवश उसे अकस्मात् मिल जाता है, तो क्या यह माना जा सकता है कि वह धन शक्ति वाला हो गया क्योंकि धन में स्वयं अपनी कोई शक्ति नहीं होती। वह शक्ति तभी बन पाती है, जब उसके प्रयोग अथवा उपयोग से ज्ञान का समावेश होता है।

यदि मनुष्य यह भी न जानता हो कि वह उस धन से कौन-सा व्यवसाय करे, किस जन-हितैषी संस्था को दान दे, समाज के लाभ के लिए, कौन-सी क्या स्थापना करे ? वह धन द्वारा किस प्रकार दीन-दुःखियों, अपाहिजों अथवा आवश्यकताग्रस्त लोगों की सहायता करें ? उसको व्यय कर किस प्रकार का रहन-सहन बनाए, क्या और किस प्रकार के कामों में उसको भगाए, जिससे समाज में उसका आदर हो, आत्मा में प्रकाश हो और परमार्थ में रुचिता बढे तो वह उसकी क्या शक्ति बनकर सहायक हो सकेगा।

बल्कि अज्ञान की अवस्था में या तो वह धन को आबद्ध रखकर समाज और राष्ट्र की प्रगति रोकेगा, चोर-डाकुओं और ठगों को आकर्षित करेगा अथवा ऊल-जलूल विधि से उसका अपव्यय एवं अनुपयोग करके समाज में विकृतियाँ पैदा करेगा, अपना जीवन बिगाड़ेगा। यह तो मनुष्य की वास्तविक शक्ति का लक्षण नहीं है। धन की शक्ति में वास्तविकता तभी आती है, जब उसके संग्रह एवं उपयोग का ठीक-ठीक ज्ञान होता है नहीं तो अपमार्गों द्वारा संचित धन मनुष्य की निर्बलता और आशंका का हेतु बनता है। दुरुपयोग द्वारा भी वह समाज में अपवाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि का लक्ष्य बनकर निर्बलता की ओर बढ़ता है। इसलिए यह मानना ही होगा कि वास्तविक शक्ति न

धन में होती है और न जन में, वह होती है उस ज्ञान में जो इन उपलब्धियों के उपार्जन एवं व्यय का नियंत्रण किया करता है।

शारीरिक शक्ति को तो प्रायः लोग निर्विवाद रूप से शक्ति ही मानते हैं। किंतु वास्तविकता यही है कि इस शक्ति को भी नियंत्रित तथा उपयोग करने का ठीक ज्ञान न हो तो इसका कोई लाभ नहीं होता। शारीरिक शक्ति को कहाँ लगाया जाए, उसका उपयोग किस प्रकार किया जाए—यदि इस बात की ठीक जानकारी न हो तो या तो वह शक्ति किसी शोषक के अर्थ लग जाएगी अथवा कोई कुटिल उसका उपयोग कर किसी संकट में उलझा देगा। यदि एक बार ऐसा न भी हो तो भी किसी सृजन में न लगकर या तो वह यों ही नष्ट हो जाएगी अथवा किसी ऐसे काम में स्थापित हो जाएगी, जिसका मूल्य नगण्यतम ही होगा।

ज्ञान-हीन शारीरिक शक्ति, पशु शक्ति होती है। वह अपना और दूसरों का बहुत कुछ अनिष्ट कर सकती है। अपना अनिष्ट तो इस तरह कि वह बल के अभिमान में कोई ऐसा प्रदर्शन करने का प्रयत्न कर सकता है, जिसमें अंग-भंग हो जाए, शक्तिमद से प्रेरित होकर किसी से अकारण उलझकर संकट उत्पन्न कर सकता है। अपनी धृष्टता और उद्दंडता से समाज को विरोधी बना सकता है। सदुपयोग का ज्ञान न होने से चुप न रहने वाली शारीरिक शक्ति गलत रास्तों पर जा सकती है और इसी अबूझ तथा अनियंत्रित प्रवाह में पड़कर ही तो बहुत-से लोग अपराधी, अत्याचारी तथा दुस्साहसी बन जाया करते हैं और तब उनकी वह शक्ति विविध प्रकार के भयों का कारण बन जाती है। इसलिए तन, मन, धन और जन-शक्ति को वास्तविक शक्ति न मानकर उस ज्ञान को ही मानना चाहिए, जो उनके उपार्जन नियंत्रण तथा उपयोग का संचालन किया करता है।

मनुष्य की वास्तविक शक्ति ज्ञान है—पर वास्तविक ज्ञान क्या ? इसका जान लेना भी नितांत आवश्यक है। ऐसा किए बिना मनुष्य किसी भी जानकारी को ज्ञान समझकर पथ-भ्रांत हो सकता है। यदि वह भौतिक विभूतियों के उपार्जन के उपायों की जानकारी को ज्ञान समझ ले अथवा किन्हीं गलत क्रियाओं की विधि या अपने किसी अंध-विश्वास को ही ज्ञान समझ बैठे, तब तो उसका कल्याण ही नष्ट हो जाए और वह अज्ञान के अंधकार में ही भटकता रह जाए।

शास्त्रकारों और मनीषियों ने जिस वास्तविक ज्ञान का संचय करने का निर्देश किया है, वह स्कूल और कालिजों में मिलने वाली शिक्षा नहीं है और न इसे संचय करके ज्ञान प्राप्ति का संतोष कर लेना चाहिए। स्कूली शिक्षा तो लौकिक जीवन को साधन-संपन्न बनाने और वास्तविक ज्ञान की ओर अग्रसर होने का एक माध्यम मात्र है, वास्तविक ज्ञान नहीं है।

बहुत-से लोग शास्त्र और धार्मिक ग्रंथों में दिए निर्देशों की जानकारी ही को ज्ञान मान बैठते हैं और बहुत-से लोग महात्माओं अथवा आर्ष-ग्रंथों के वाक्यों को रट लेना भर भी ज्ञान समझ बैठते हैं। किंतु यह सब बातें भी वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है। वास्तविक ज्ञान नहीं है। शास्त्रों को स्वाध्याय और महात्माओं का सत्संग वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में सहायक तो हो सकता है किंतु इसका उपार्जन तो मनुष्य को स्वयं ही आत्म चिंतन एवं मनन द्वारा ही करना पड़ता है। पुस्तक पढ लेने अथवा किसी महात्मा का कथन सुन लेने भर से वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। वास्तविक ज्ञान तो आत्मानुभूति के द्वारा ही संभव हो सकता है।

आज के वैज्ञानिक काल में ज्ञान के विषय में और भी अधिक भ्रम फैला हुआ है। लोग वैज्ञानिक शोधों, आविष्कारों और अन्वेषणों को ही वास्तविक ज्ञान मानकर मदमत्त हो रहे हैं। प्रकाश, ताप, विद्युत, वायु, जल, गति चुंबकत्व के ज्ञान और उसके उपयोग, प्रयोग को ही सच्चा ज्ञान समझकर अज्ञान के घने अंधकार में धँसते चले जा रहे हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि आज का सारा वैज्ञानिक ज्ञान विशुद्ध भौतिक अनुभूतियों को प्राप्त करने के लिए साधन भर है और आज के इन वैज्ञानिक साधनों ने मनुष्य को इस सीमा तक भ्रांत कर दिया है कि वह आत्मा, परमात्मा को भूलकर बुरी तरह नास्तिक बनता जा रहा है। जिसकी परिसमाप्ति, यदि शीघ्र ही अज्ञान और विज्ञान विषयक अंधविश्वास का सुधार न किया गया तो भयानक ध्वंस में ही होगी। जिस ज्ञान का परिणाम विनाश हो उसे वास्तविक ज्ञान किस प्रकार माना जा सकता है ?

वास्तविक ज्ञान का लक्षण तो वह स्थिर बुद्धि और उसका निर्देशन है, जिसे पाकर मनुष्य अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, असत्य से सत्य की ओर उन्मुख होता है। सच्चे

ज्ञान में न तो असंतोष होता है और न लिप्साजन्य आवश्यकताएँ। उसकी प्राप्ति तो आत्मज्ञता, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्म-विश्वास का ही हेतु होती है। जिस ज्ञान से इन दिव्य विभूतियों एवं प्रेरणाओं की प्राप्ति नहीं होती, उसे वास्तविक ज्ञान मान लेना बड़ी भूल होगी।

इस प्रकार का वास्तविक ज्ञान किसी प्रकार का भौतिक ज्ञान नहीं शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान ही हो सकती है और सांसारिक कर्म करते हुए, उसे प्राप्त करने का उपाय करते ही रहना चाहिए। फिर इसके लिए चाहे स्वाध्याय करना पड़े, सत्संग अथवा चिंतन-मनन करना पड़े, आराधना, उपासना अथवा पूजा-पाठ करना पड़े। वास्तविक ज्ञान के बिना न तो जीवन में शांति मिलती है और न उसको परकल्याण प्राप्त होता है।

वास्तविक ज्ञान ही जीवन का सार और आत्मा का प्रकाश है। एक मात्र सच्चा ज्ञान ही लोक-परलोक में अक्षय तत्त्व और सच्चा साथी है, बाकी सब कुछ नश्वर तथा मिथ्या है तथापि ज्ञानवान् पुरुष के लिए यह मिथ्या जगत् और नश्वर पदार्थ भी आत्म-दर्पण में आत्मस्वरूप के रूप में प्रतिविंबित होते हुए यथार्थ रूप में प्रतीत होने लगते हैं। ज्ञान का अमृत न केवल मनुष्य को ही बल्कि उसके जीवन-जगत को भी अमरत्व प्रदान कर देता है। ज्ञान की महिमा अपार एवं अकथनीय है।

ज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है। अस्तु, इस सत्य को अच्छी प्रकार हृदयंगम करके सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने का हर संभव उपाय करते ही रहना चाहिए, कि तन, धन अथवा जन की शक्ति वास्तविक शक्ति नहीं है और उनकी प्राप्ति का उपाय ही ज्ञान है। यह सब भौतिक जीवन में साधनों का समावेश करने का माध्यम मात्र है। वास्तविक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है और वही मनुष्य की सच्ची शक्ति भी है, जिसके सहारे वह आत्मा तक और आत्मा से परमात्मा तक पहुँचकर उस सुख, उस शांति और उस संतोष का अक्षय भंडार हस्तगत कर सकता है, जिसको वह जन्म-जन्म से खोज रहा है किंतु पा नहीं रहा है। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य इच्छित जगत के निर्माण में समर्थ होता है। स्वाध्याय, सत्संग एवं चिंतन-मनन की त्रिपदा साधना ही ज्ञान-सिद्धि का उपाय है।

□□

स्वाध्याय-जीवन विकास की अनिवार्य आवश्यकता

बहुत बार हममें से अनेक लोग किसी को धारा-प्रवाह बोलते एवं भाषण देते देखकर मंत्र-कीलित जैसे हो जाते हैं और वक्ता के ज्ञान एवं उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं और कभी-कभी यह भी मान लेते हैं कि इस व्यक्ति पर माता सरस्वती की प्रत्यक्ष कृपा है। इसके अंतर्पट खुले हुए हैं, तभी तो ज्ञान का अविरल स्रोत इसके शब्दों में मुख के द्वारा बाहर बहता चला आ रहा है।

बात भी सही है, श्रोताओं का इस प्रकार आश्चर्य विभोर हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं है। सफल वक्ता अथवा समर्थ प्राध्यापक जिस विषय को लेते हैं, उस पर घंटों एक बार बोलते चले जाते हैं और यह प्रमाणित कर देते हैं कि उनको उस विषय का सांगोपांग ज्ञान है और उनकी सारी विद्या जिह्वा के अग्रभाग पर रखी हुई है। यह बात लगती तो वास्तव में एक चमत्कार है, एक सिद्धि जैसी। जबकि वह कोई मांत्रिक सिद्धि नहीं होती है। वह सारा चमत्कार उनके उस स्वाध्याय का सुफल होता है, जिसे वे किसी दिन भी किसी अवस्था में नहीं छोड़ते। उनके जीवन में कदाचित ही कोई अभागा दिन जाता हो, जिसमें वे मनोयोगपूर्वक घंटे दो घंटे स्वाध्याय न करते हों। स्वाध्याय उनके जीवन का एक अंग और प्रतिदिन की एक आवश्यकता बन जाता है। जिस दिन वे अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाते, उस दिन वे अपने तन-मन और आत्मा में एक भूख, एक रिक्तता का अनुभव किया करते हैं। उस दिन को वे जीवन का एक मनहूस दिन मानते और उस मनहूस दिन को कभी भी अपने जीवन में आने का अवसर नहीं देते।

यही तो वह अबाध तप है जिसका ज्ञान मुखरता के रूप में वक्ताओं एवं विद्वानों की जिह्वा पर सरस्वती के वास का विश्वास उत्पन्न करा देता है। चौबीसों घंटों सरस्वती की उपासना में लगे

रहिये, जीवन भर ब्राह्मी मंत्र एवं ब्राह्मी बूटी का सेवन करते रहिए, किंतु स्वाध्याय किसी दिन भी न करिए और देखिए कि सरस्वती की सिद्धि तो दूर पास की पढ़ी हुई विद्या भी विलुप्त हो जाएगी। सरस्वती स्वाध्याय का अनुगमन करती है, इस सत्य का सम्मान करता हुआ जो साधक उसकी उपासना करता है, वह अवश्य उसकी कृपा का भागी बन जाता है।

नित्य ही तो न्यायालयों में देखा जा सकता है कि कोई एक वकील तो धारावाहिक रूप में बोलता और नियमों की व्याख्या करता जाता है और कोई टटोलकर भूलता याद करता हुआ-सा कुछ थोड़ा-बहुत बोल पाता है। दोनों वकीलों ने एक समान ही कानून की परीक्षा पास की, उनके अध्ययन का समय भी बराबर रहा, पैसा और परिश्रम भी परीक्षा पास करने में लगभग एक-सा ही लगाया और न्यायालयों में पक्ष प्रतिपादन का अधिकार भी समान रूप से ही मिला है—तब यह ध्यानाकर्षक अंतर क्यों ? इस अंतर का अन्य कोई कारण नहीं, एक ही अंतर है और वह है स्वाध्याय। जो वकील धारावाहिक रूप में बोलकर न्यायालय का वायुमंडल प्रभावित कर अपने पक्ष का समर्थन जीत लेता है—वह निश्चय ही, बिना नागा घंटों स्वाध्याय का व्रती होगा। इसके विपरीत जो वकील अविश्वासपूर्वक विश्रृंखल प्रतिपादन करता हुआ दिखलाई दे, विश्वास कर लेना चाहिए कि यह स्वाध्यायशील नहीं है। यों ही अपनी पिछली योग्यता, स्मृति के आधार पर पक्ष प्रतिपादन का असफल प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार के स्वाध्यायहीन वकील अथवा प्रोफेसर अपने काम में सफल नहीं हो पाते और प्रगति की दौड़ में पीछे पड़े हुए घिसटते रहते हैं। उनको अपने पेशे में कोई अभिरुचि नहीं रहती और शीघ्र ही वे उसे छोड़कर भाग जाने की सोचने लगते हैं।

ऐसे असफल न जाने कितने वकील एवं प्रोफेसर देखने को मिल सकते हैं, जो स्वाध्यायहीनता के दोष के कारण अपना-अपना स्थान छोड़कर छोटी-मोटी नौकरी में चले गए हैं। ऐसे विशाल एवं सम्मानित क्षेत्र से अपने अवांछनीय दोष के कारण भाग खड़ा होना मनुष्य के लिए बड़ी लज्जास्पद असफलता है।

इतना ही नहीं, वर्षों पुराने, अनुभवी और मजबूती से जमे हुए अनेक वकील प्रमाद के कारण नए-नए आए हुए वकीलों द्वारा उखाड़

फेंक देखे जा सकते हैं। पुराने लोग अपने विगत स्वाध्याय, जमी प्रेक्टिस, प्रमाणित प्रतिभा और लंबे अनुभव के अभिमान में आकर यह सोचकर दैनिक स्वाध्याय में प्रमाद करने लगते हैं कि हम तो इस क्षेत्र के महारथी हैं, इस विषय के सर्वज्ञ हैं, कोई दूसरा हमारे सामने खड़े होने का साहस ही नहीं कर सकता। किंतु नया आया हुआ वकील नियमपूर्वक अपने विषय का अनुदैनिक स्वाध्याय करता और ज्ञान को व्यापक बनाता और माँजता रहता है। प्रमाद एवं परिश्रम का जो परिणाम होना है, वह दोनों के सामने उसी रूप में आता है। निदान पुराना वकील पीछे पड़ जाता है और नया आगे निकल जाता है।

एक वकालत में ही नहीं किसी भी विषय अथवा क्षेत्र में अध्ययनशीलता एवं अध्ययनहीनता का परिणाम एक जैसा ही होता है। इसमें चिर, नवीन अवस्था का कोई आक्षेप नहीं होता। यह एक वैज्ञानिक सत्य है, जिसमें अपवाद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र ले लीजिए कोई अमुक नित्य चार-चार बार पूजा करता, तीन-तीन घंटे आसन लगाता, जाप करता अथवा कीर्तन में निमग्न रहता। व्रत उपवास रखता, दान दक्षिणा देता है, किंतु शास्त्रों अथवा सद्ग्रंथों का स्वाध्याय, उनके विचारों का चिंतन-मनन नहीं करता। सोच लेता है जब मैं इतना क्रिया-कांड करता हूँ तो इसके बाद अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। आत्म-ज्ञान अथवा परमात्म अनुभूति करा देने के लिए इतना ही पर्याप्त है तो निश्चय ही यह भ्रम में हैं। आत्मा का क्षेत्र वैचारिक क्षेत्र है सूक्ष्म भावनाओं एवं मनन-चिंतन का क्षेत्र है।

अध्ययन के अभाव में इस आत्म-जगत में गति कठिन है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान अथवा परमात्मा के अस्तित्व का परिचय प्राप्त हुए बिना उनसे संपर्क किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है? इस अविगत का ज्ञान तो उन महान् मनीषियों का अनुभव अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकना संभव है, जो अवतार रूप में संसार को वेदों का ज्ञान देने के लिए परमात्मा का प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। आसन-ध्यान, पूजा-पाठ तो प्रधान रूप में बुद्धि को परिष्कृत और आचरण को उज्ज्वल बनाने के लिए, इस हेतु करना आवश्यक है कि अध्यात्म के वैदिक तत्त्व को समझने और ग्रहण करने की

क्षमता प्राप्त हो सके। इसके विपरीत यदि एक बार पूजा-पाठ को स्थगित भी रखा जाए और एकाग्रता एवं आस्थापूर्वक स्वाध्याय और उसका चिंतन-मनन भी किया जाए तो बहुत कुछ उसी दिशा में बढ़ा जा सकता है। स्वाध्याय स्वयं ही एक तप, आसन और साधना के समान है। इसका नियम निर्वाह करने में आप ही आप अनेक नियम, संयमों का अभ्यास हो जाता है।

स्वाध्याय में मनुष्य का अंतःकरण निर्मल कर देने और उसके अंतर्पट खोलने की सहज ही क्षमता विद्यमान् है। आंतरिक उद्‌घाटन हो जाने से मनुष्य स्वयं ही आत्मा अथवा परमात्मा के प्रति जिज्ञासु हो उठता है। उसकी चेतना उर्ध्वमुखी होकर उसी ओर को उड़ने के लिए, पर तौलने लगती है। उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रस्फुटन स्वाध्याय के द्वारा ही हुआ करता है। स्वाध्याय निःसंदेह एक ऐसा अमृत है, जो मानस में प्रवेश कर मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों को नष्ट कर देता है।

चारित्रिक उज्ज्वलता स्वाध्याय का एक साधारण और मनोवैज्ञानिक फल है। सद्ग्रंथों में सन्निहित साधु वाणियों का निरंतर अध्ययन एवं मनन करते रहने से मन पर संस्कारों की स्थापना होती है, जिसमें चित्त आपसे आप दुष्कृत्यों की ओर से फिर जाता है। स्वाध्यायी व्यक्ति पर कुसंग का भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता, इसका भी एक वैज्ञानिक कारण है। जिसकी स्वाध्याय में रुचि है और जो उसको जीवन का एक ध्येय मानता है, वह आवश्यकताओं से निवृत्त होकर अपना सारा समय स्वाध्याय में ही तो लगाता है। इसलिए उसके पास कोई फालतू समय ही नहीं रहता, जिसमें वह जाकर इधर-उधर यायावरी करेगा और दूषित वातावरण से अवांछनीय तत्त्व ग्रहण कर लाएगा।

इसी प्रकार 'रुचि-साम्य संपर्क' के सिद्धांत के अनुसार भी यदि उसके पास कोई आवेगा तो प्रायः उसी रुचि का होगा और उन दोनों को एक सामयिक सत्संग का लाभ होगा। रुचि वैषम्य रखने वाला स्वाध्यायशील के पास जाने का कोई प्रयोजन अथवा साहस ही न रखेगा और यदि असंयोगवश ऐसे कोई व्यक्ति आ भी जाते हैं तो उनके पास का वातावरण अपने अनुकूल न पाकर, देर तक ठहर ही

न पाएँगे। निदान संगतिजन्य आचरण दोषों का स्वाध्यायशील के पास कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मोन्नति के संबंध में विपरीत वृत्तियाँ आलस्य, प्रमाद अथवा असंयम आदि स्वाध्यायशील व्यक्ति के निकट नहीं जाने पातीं। इसका भी एक वैज्ञानिक हेतु ही है, कोई सुरक्षा कवच का प्रभाव नहीं है। जिसे पढ़ना है और नित्य नियम से जीवन का ध्येय समझकर पढ़ता है, वह तो हर अवस्था में अपने उस व्रत का पालन करेगा ही। वह जानता है, अव्यवस्था अथवा अनियमितता, उसके इस रुचिपूर्ण व्रत में बाधक होगी। अस्तु वह जीवन की एक सुनिश्चित दिनचर्या बनाकर चलता है। उसका सोना, जागना, खाना-पीना, टहलना, घूमना और कारबार करने के साथ-साथ पढ़ने-लिखने का कार्यक्रम व्यवस्थित रूप में बड़े अच्छे ढंग से चला करता है। जिसने जीवन के क्षणों को इस प्रकार उपयोगितापूर्वक नियमबद्ध कर दिया है, उसका तो एक-एक क्षण तपस्या का ही समय माना जाएगा। जिसने जीवन में व्यवस्था एवं नियमबद्धता का अभ्यास कर लिया, उसने मानो अपने आत्म-लक्ष्य के लिए एक सुंदर नसैनी तैयार कर ली है, जिसके द्वारा वह सहज ही में ध्येय तक जा पहुँचेगा।

अनुभव सिद्धि विद्वानों ने स्वाध्याय को मनुष्य का पथप्रदर्शक नेता और मित्र जैसा हितैषी बताता है। उनका कहना है कि जो व्यक्ति सत्पथ प्रदर्शक अपने सच्चे सखा स्वाध्याय का परित्याग कर देता है, उसका नाड़ी आदि इंद्रियों पर अधिकार नहीं रहता। उसका मन चंचल, विवेकमंद और बुद्धि कुंठित रहती है। इन सब दोषों के कारण उसे दुःखों का भागी बनना पड़ता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो अपने सच्चे मित्र स्वाध्याय को कभी नहीं छोड़ता। इसीलिए तो गुरुकुल से अध्ययन पूरा करने के बाद विदा लेते समय गुरु, शिष्य को यही अंतिम उपदेश दिया करता था—

"स्वाध्यायात् मा प्रमद।"

अर्थात्—"हे प्यारे शिष्य ! अपने भावी जीवन में स्वाध्याय द्वारा योग्यता बढ़ाने में प्रमाद मत करना।"

स्वाध्याय से जहाँ संचित ज्ञान सुरक्षित तो रहता ही है, साथ ही उस ज्ञान कोश में नवीनता और वृद्धि भी होती रहती है। वहाँ

स्वाध्याय से विरत हो जाने वाला नई पूँजी पाना तो क्या गाँठ की विद्या भी खो देता है।

स्वाध्याय जीवन विकास के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है, जिसे हर व्यक्ति को पूरा करना चाहिए। अनेक लोग परिस्थितियोंवश अथवा प्रारंभिक प्रमादवश पढ़-लिख नहीं पाते और जब उन्हें शिक्षा और स्वाध्याय के महत्त्व का ज्ञान होता है, तब हाथ मल-मल कर पछताते हैं।

किंतु इसमें पछताने की बात होते हुए भी अधिक चिंता की बात नहीं है। ऐसे लोग जो स्वयं पढ़-लिख नहीं सकते, उन्हें विद्वानों का सत्संग करके और दूसरों द्वारा सद्ग्रंथों को पढ़वाकर सुनने अथवा उनके प्रवचन का लाभ उठाकर अपनी इस कमी की पूर्ति करते रहना चाहिए। जिनके घर पढ़े-लिखे बेटी-बेटे अथवा नाती-पोते हों, उन्हें चाहिए कि संध्या समय उनको अपने पास बिठा कर सद्ग्रंथों का पाठ कराएँ।

इस प्रकार उसका स्वयं तो लाभ होगा ही, बच्चों को भी सद्ग्रंथों का अध्ययन करने का अभ्यास हो जाएगा। जहाँ चाह, वहाँ राह—के सिद्धांत के अनुसार यदि स्वाध्याय में रुचि है और उसके महत्त्व को हृदयंगम कर लिया गया है तो शिक्षा अथवा अशिक्षा का कोई व्यवधान नहीं आता, स्वाध्याय के ध्येय को अनेक तरह पूरा किया ही जा सकता है।

महान दार्शनिकों, अन्वेषी सिद्ध-तपस्वियों और श्रेष्ठ महापुरुषों के प्रचंड परिश्रम से उपार्जित—उपलब्ध अमूल्य रत्न-राशि का सहजता से हाथ लग जाना कितना बड़ा सौभाग्य है, यह उनके ही जीवन से जाना जा सकता है, जिन्होंने इस सौभाग्य को पाने का अवसर गँवाया नहीं है। इतने अनुभवपूर्ण ज्ञान को इतनी सुगमता से पा सकना सचमुच मनुष्य के लिए कितना श्रेष्ठ अनुदान है ?

व्यक्तित्व के उत्कर्ष के लिए प्रत्यक्ष प्रेरणा ही प्रभावी सिद्ध होती है। ऐसी प्रेरणा पाना ही सत्संग का लाभ उठाना कहा गया है। व्यक्तियों का सत्संग तो वैसे भी दुर्लभ ही है। सामान्यतः जो लोग कुछ आगे बढ़े-चढ़े होते भी हैं, उनसे जितना सद्ज्ञान मिलता है, उससे अधिक भ्रांतियों का अंबार मिलता है। जबकि उत्तम पुस्तकों के रूप में हमें उत्कृष्ट मनीषा का सान्निध्य सहज उपलब्ध हो जाता है।

एस० डब्ल्यू० क्लेमेन्स के एक प्रश्न के उत्तर में गाँधीजी ने १६२० में एक बार कहा था कि जिन पुस्तकों ने मेरे जीवन और चिंतन को रूप दिया वे हैं, 'भगवद्गीता', 'बाइबिल', रस्किन की 'अन टु दिस लास्ट' तथा ताल्सताय की 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू'। उनके सचिव महादेव भाई देसाई का कहना है कि "गांधीजी के जीवन का प्रत्येक क्षण गीता के संदेश के अनुरूप जीवनयापन का सजग प्रयत्न है।" गांधी के सविनय अवज्ञा पर थोरो की कृतियों का प्रभाव रहा है। उन्होंने लिखा है, "थोरो की पुस्तक 'वाल्डेन' मैंने पहली बार १६०६ में दक्षिण अफ्रीका के जोहानसवर्ग में पढ़ी। थोरो ने सविनय अवज्ञा के विचार का आविष्कार एवं व्यवहार दोनों ही किए थे। कांकर्ड ने मैसासुचेट्स में अमेरिकन सरकार के प्रति अपना विरोध व्यक्त करने के लिए कर देने से इनकार किया था। जेल भी गए थे। थोरो का निबंध पढ़ने के पहले मुझे अपने भारतीय शब्द 'सत्याग्रह' के लिए कोई उपयुक्त अंग्रेजी अनुवाद नहीं मिल सका था। थोरो के विचारों ने भारत में मेरे आंदोलन को निश्चय ही पर्याप्त प्रभावित किया है।

रस्किन के "अन टु दिस लास्ट" ने भी गांधीजी को अभिभूत कर लिया। बाद में उन्होंने "सर्वोदय" नाम से इस कृति का गुजराती अनुवाद भी प्रस्तुत किया। उनकी गहनतम आस्थाएँ इसी पुस्तक को पढ़ते हुए जागृत हुईं। इसी प्रकार गीता को वे अपना आध्यात्मिक संदर्भ ग्रंथ मानते थे तथा संशय के किसी भी अवसर पर उसी प्रकाश-स्रोत ग्रंथ की शरण जाते एवं मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। वे उसे अपनी माँ कहते थे।

जार्ज वाशिंगटन के मन में स्वतंत्रता की अमर आग पुस्तकों ने ही लगाई थी। रोम्यां रोलाँ के उपन्यास 'जां क्रिस्तोफ' ने हजारों लोगों में नई जीवन-दृष्टि जगाई। मेरी स्टो की पुस्तक 'टाम काका की कुटिया' ने अमरीका एवं पाश्चात्य जगत में हलचल मचा दी थी। तो गोर्की की 'माँ' ने रूस को हिला दिया था।

हीगेल के दर्शन के अध्ययन ने मार्क्स को अपनी जीवन दृष्टि के निर्धारण के लिए प्रचुर सामग्री दी तथा एडमस्मिथ, डेविड रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों की कृतियों ने अर्थशास्त्रीय दृष्टि दी। इस मेधावी सिद्धांतकार के जीवन में सदैव पुस्तकों का अत्यधिक महत्त्व रहा

और जीवन के बहुमूल्य वर्ष उसने गंभीर अध्ययन में बिताए। लेनिन को रूसी समाजवादी क्रांति की प्रेरणा मार्क्स ए गेल्स की प्रभावी रचनाओं से ही मिली। इस प्रकार अमरीका और रूस दोनों के स्वतंत्रता-संग्राम में पुस्तकों की विशेष भूमिका रही। अफ्रीकी देशों में जो जागृति दिखाई पड़ रही है, उसमें भी पुस्तकों की प्रेरणाएँ अंतर्निहित हैं। केनेथ काउंडा, जोमो केन्याता, मकारियोस सभी ने किसी प्रत्यक्ष सत्संग से नहीं, प्रेरक पुस्तकों से ही संघर्ष की प्रेरणाएँ पाईं।

माओत्सेतुंग को मार्क्स की ही नहीं, सनयात-सेन की भी पुस्तकों ने प्रभावित किया। होची मिन्ह और चेंवेवारा मार्क्सवादी साहित्य के अध्येता भी थे प्रणेता भी।

भारतीय क्रांतिकारियों के जीवन में बंकिम के 'आनंद मठ', शरत के 'पथेर दावी' और लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य' की विशिष्ट भूमिका रही है। विवेकानंद और अरविंद की कृतियों ने अनेक अभिनव राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिविधियों को शक्ति दी। जबकि खुद विवेकानंद और अरविंद ने वेद उपनिषद् एवं भारतीय शास्त्रों तथा पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था।

दार्शनिक एमर्सन कहा करते थे कि पुस्तकों से प्रेम ईश्वर के राज्य में पहुँचने का विमान है। सिसरो के अनुसार "अच्छी पुस्तकों को घर में संचित-संग्रहीत करना घर को देव-मंदिर बनाना है।

कैंपिस ने एक बार अपने साथियों से कहा था—"अपना कोट बेचकर भी अच्छी पुस्तकें खरीदो। कोट के बिना जाड़ों में शरीर को कष्ट होगा किंतु पुस्तकों के बिना तो आत्मा ही भूखी-तड़पती रहेगी।"

पुश्किन, ताल्सताय, तुर्गनेव, चेखव और गोर्की की पुस्तकों ने जितना रूसी जन-मन को आंदोलन-स्पंदित किया है, उससे कुछ कम बाहरी विश्व को नहीं। उपनिषदों का संदेश दुनिया भर के तत्त्वान्वेषियों को नई अंतर्दृष्टि तथा अभिनव चेतना से भरता रहा है। शेक्सपियर का प्रभाव-क्षेत्र इंग्लैंड की सीमाओं से हजार गुना अधिक है। कालिदास की रचनाएँ अमरीकी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, ब्रिटिश, जापानी, एशियाई और अफ्रीकी— साहित्यानुरागियों को समान रूप से आकर्षित करती हैं। पातंजलि योगसूत्रों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव विश्वभर की योगाभ्यास प्रक्रियाओं में देखा जाता है। जिन्होंने गांधी को नहीं देखा, ऐसे एशियाई,

अफ्रीकी, यूरोपीय अनेक जननेताओं को गांधी की पुस्तकें ही नई रणनीति एवं राजनीति का मार्ग दिखा रही हैं, फिर वे स्व० मार्टिन लूथर किंग हों या चेकोस्लोवाकिया के विद्रोही।

मानवीय प्रगति के प्रमुख आधारों मे स्वाध्याय का विशिष्ट महत्त्व है। स्वाध्याय का अर्थ है सद्ग्रंथों का अध्ययन-मनन। मनोरंजन मात्र के लिए पढ़ी जाने वाली पुस्तकें आस्था के आधार नहीं प्रस्तुत कर पातीं। ज्ञान की जिज्ञासा का समाधान एवं तृप्ति प्रदान करने वाली पुस्तकों को पढ़ना, उन पर सोचना, मनन करना ही जीवन प्रगति का आधार बनता है। ऐसी पुस्तकें व्यक्ति की पथ-प्रदर्शक गुरु बनती हैं और उनके भीतर निहित क्षमताओं को उभार कर उन्हें विकसित व्यक्तित्व का स्वामी बनाती हैं।

❒ ❒

उत्तम पुस्तकें जाग्रत देवता है, उनकी नियमित उपासना करें

ज्ञान की वृद्धि के लिये, ज्ञानोपासना के लिए पुस्तकों का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण आधार है। मानव जाति द्वारा संचित समस्त ज्ञान पुस्तकों में संचित है। खासकर जब से लिखने और छापने का प्रचार हुआ तब से मानव द्वारा उपलब्ध ज्ञान लिपिबद्ध करके संचित किया जाने लगा। इसलिए उत्तम पुस्तकों का अध्ययन करना व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक होता है।' अच्छी पुस्तकें एक विकसित मस्तिष्क का 'ग्राफ' होती हैं। मिल्टन ने कहा है, "अच्छी पुस्तक एक महान आत्मा का जीवन रक्त है।" क्योंकि उसमें उसके जीवन का विचारसार सन्निहित होता है। व्यक्ति मर जाते हैं लेकिन ग्रंथों में उनकी आत्मा का निवास होता है। ग्रंथ सजीव होते हैं। इसलिए लिटन ने कहा है, "ग्रंथों में आत्मा होती है। सद्ग्रंथों का कभी नाश नहीं होता।"

विकासशील जीवन के लिए पुस्तकों का साथ होना आवश्यक है, अनिवार्य है, क्योंकि पुस्तकों में ही 'जीवन का मार्ग-दर्शन प्रकाश स्रोत मिलता है। वस्तुतः संसार के सभी भीषण सागर में डूबते उतराते मनुष्यों के लिए पुस्तकें उस प्रकाश स्तंभ की तरह सहायक होती हैं जैसे समुद्र में चलने वाले जहाजों को मार्ग दिखाने वाले प्रकाशगृह।

सिसरो ने कहा है "ग्रंथरहित कमरा आत्मारहित देह के समान है।" तात्पर्य यह है कि उत्तम पुस्तकें नहीं होने से मनुष्य ज्ञान से वंचित रह जाता है और ज्ञान रहित जीवन मुर्दे के समान व्यर्थ होता है। जो व्यक्ति दिन-रात अच्छी पुस्तकों का संपर्क प्राप्त करते हैं, उनमें मानवीय चेतना ज्ञान प्रकाश से दीप्त होकर जगमगा उठती है। ज्ञान का अभाव भी एक तरह की मृत्यु है।

उत्तम पुस्तकों में उत्तम विचार होते हैं। उत्तम विचार उदात्त भावनाएँ, भव्य कल्पनाएँ जहाँ हैं वहीं स्वर्ग है। लोकमान्य तिलक ने कहा है, "मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूँगा क्योंकि इनमें वह शक्ति है कि जहाँ ये रहेंगी वहाँ अपने आप ही स्वर्ग बन जाएगा।" स्वर्ग का दृश्य अस्तित्व कहीं नहीं है। मनुष्य की उत्कृष्ट मनःस्थिति जो उत्तम विचारों का फल है, वहीं स्वर्ग है। उत्तम पुस्तकों का सान्निध्य मनुष्य की बुद्धि को जहाँ भी मिलता है, वहीं उसे स्वर्गीय अनुभूति होने लगती है।

सच्चे, निःस्वार्थी आत्मीय मित्र मिलना कठिन है। हममें से बहुतों को इस संबंध में निराश ही होना पड़ता है। लेकिन अच्छी पुस्तकें सहज ही हमारी सच्ची मित्र बन जाती हैं। वे हमें सही रास्ता दिखाती हैं जीवन-पथ पर आगे बढ़ने में हमारा साथ देती हैं। महात्मा गांधी ने कहा है "अच्छी पुस्तकें पास होने पर हमें भले मित्रों की कमी नहीं खटकती, वरन् मैं जितना पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ उतनी ही वे मुझे उपयोगी मित्र मालूम होती हैं।"

मानव जीवन—संसार का ज्ञान असंख्यों अनेकताओं से भरा पड़ा है। मनुष्य का अपना मानस ही इतने अधिक विचारों से भरा रहता है कि क्षण-क्षण नई लहरें उत्पन्न होती रहती हैं। इन अनेकताओं का परिणाम होता है मनुष्य के अंतर बाह्य जीवन में अनेक संघर्ष। विचार संग्राम में पुस्तकें ही मनुष्य के लिए प्रभावशाली

शस्त्र सिद्ध होती हैं। एक व्यक्ति का ज्ञान सीमित एकांगी हो सकता है लेकिन उत्तम पुस्तकों के स्वाध्याय से मनुष्य अपने आपका सही-सही समाधान ढूँढ़ सकता है। खासकर विचारों के संघर्ष में पुस्तकें ही सहायक सिद्ध होती हैं।

पुस्तकें मन को एकाग्र और संयमित करने का सबसे सरल साधन हैं। अध्ययन करते-करते मनुष्य जीवन में समाधि अवस्था को प्राप्त कर सकता है। एक बार लोकमान्य तिलक का आपरेशन होना था। इसके लिए उन्हें क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश करना था। लेकिन इसके लिए उन्होंने डॉक्टर को मना कर दिया और कहा "मुझे एक गीता की पुस्तक ला दो मैं उसे पढ़ता रहूँगा और आप आपरेशन कर लेना। पुस्तक लाई गई। लोकमान्य उसके अध्ययन में ऐसे लीन हुए कि डॉक्टरों ने ऑपरेशन किया तब तक वे तनिक हिले भी नहीं न कोई दुःख ही महसूस किया। पुस्तकों के अध्ययन में ऐसे तल्लीनता प्राप्त हो जाती है, जो लंबी योग-साधनाओं से भी प्राप्त नहीं होती है।

पुस्तकों के अध्ययन के समय मनुष्य की गति एक सूक्ष्म विचार लोक में होने लगती है। दृश्य जगत, शरीर यहाँ के कई व्यापार हो-हुल्लड़ भी मनुष्य उस समय भूल जाता है। सूक्ष्म विचार लोक में भ्रमण करने का यह अनिवर्चनीय आनंद योगियों की समाधि-अवस्था के आनंद जैसा ही होता है। इस स्थिति में मनुष्य दृश्य जगत से उठकर अदृश्य संसार में, सूक्ष्म लोक में विचरण करने लगता है और वहाँ कई दिव्य चेतन विचारों का मानसिक स्पर्श प्राप्त करता है। यह ठीक उसी तरह है जैसे योगी दिव्य चेतना का सान्निध्य प्राप्त करता है ध्यानावस्था में। पुस्तकों का अध्ययन ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य अपने अंतर्बाह्य जीवन का पर्याप्त विकास कर सकता है।

मनोविकारों से परेशान, दुःखी चिंतित मनुष्य के लिए उससे दुःख-दर्द के समय उत्तम पुस्तकें अमृत हैं, जिनको सान्निध्य प्राप्त कर वह अपना उस समय दुःख-दर्द, क्लेश सब कुछ भूल जाता है। अच्छी पुस्तकें मनुष्य को धैर्य, शांति, सांत्वना प्रदान करती हैं। किसी ने कहा है 'सरस पुस्तकों से रोग पीड़ित व्यक्ति को बड़ी शांति मिलती है। जैसे स्नेहमयी जननी की मीठी-मीठी थपकियाँ बच्चों को मीठी नींद में सुला देती हैं वैसे ही मन या शरीर की पीड़ा को शांत करने के लिए उत्तम पुस्तकों का अवलंबन लेना सुखकर होता है।

उत्तम पुस्तकें, आदर्श-ग्रंथ बहुत बड़ी संपत्ति हैं। अपनी संतति के लिए उत्तराधिकार में छोड़ने के लिए सर्वोपरि मूल्यवान् वस्तु है संसार में जो अभिभावक अपनी संतान के लिए धन, वस्त्र, सुख, आमोद-प्रमोद के साधन न छोड़कर उत्तम पुस्तकों का संग्रह छोड़ जाते हैं, बहुत बड़ी संपत्ति छोड़ते हैं, क्योंकि उत्तम ग्रंथों का अध्ययन करके मनुष्य, ऋषि, देवता महात्मा, महापुरुष बन सकता है। जिन परिवारों में ज्ञानार्जन का क्रम पीढ़ियों से चलता रहता है, उनमें से पंडित, ज्ञानी, विद्वान अवश्य निकलकर आते हैं। जहाँ उत्तम पुस्तकें होती हैं, वहाँ मानों देवता निवास करते हैं। वह स्थान मंदिर है, जहाँ पुस्तकों के रूप में मूक किंतु ज्ञान के चेतनायुक्त देवता निवास करते हैं। वे माता-पिता धन्य हैं जो अपनी संतान के लिए उत्तम पुस्तकों का एक संग्रह छोड़ जाते हैं क्योंकि धन, संपत्ति, साधन सामग्री तो एक दिन नष्ट होकर मनुष्य को अपने भार से डुबो भी सकती हैं किंतु उत्तम पुस्तकों के सहारे मनुष्य भवसागर का भयंकर लहरों में भी सरलता से तैरकर उसे पार कर सकता है।

जीवन में अन्य सामग्री की तरह हमें उत्तम पुस्तकों का संग्रह करना चाहिए। जीवन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने वाले, विविध विषयों के उत्तम ग्रंथ खरीदने के लिए खर्च के बजट में सुविधानुसार आवश्यक राशि रखनी चाहिए। कपड़े, भोजन, मकान की तरह ही हमें पुस्तकों के लिए भी आवश्यक खर्चे की तरह ध्यान रखना चाहिए। स्मरण रखिए उत्तम पुस्तकों के लिए खर्च किया जाने वाला पैसा उसी प्रकार व्यर्थ नहीं जाता जिस तरह अंधेरे बियावान जंगल में प्रकाश के लिए खर्च किया जाने वाला धन।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि पुस्तकें कमरे को सजाने के लिए अथवा प्रदर्शनी लगाने के लिए न खरीदी जाएँ वरन् उनका नियमित अध्ययन जीवन के अन्य कार्यक्रमों की तरह ही आवश्यक अंग बना लेना चाहिए। उनसे अधिकाधिक लोगों को ज्ञान मिले, अध्ययन की प्रेरणा मिले ऐसी सुविधा जुटाते रहना चाहिए। पुस्तकों की उपयोगिता अध्ययन से ही है। अन्यथा वे कीड़ों का भोजन बनने के सिवा कुछ नहीं रहतीं। नई पुस्तकें खरीदना उनका अध्ययन करना उनको अधिकाधिक उपयोग में लाना ही पुस्तकों की सच्ची कद्र करना है।

स्मरण रखिए पुस्तकें जागृत देवता हैं; उनके अध्ययन, मनन, चिंतन के द्वारा पूजा करने पर तत्काल ही वरदान पाया जा सकता है। हमें नियमित रूप से सद्ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए। उत्तम पुस्तकों का स्वाध्याय जीवन का आवश्यक कर्त्तव्य बना लेना चाहिए।

पुस्तकालयों का जाल बिछा दिया जाए—

स्वाध्याय की महिमा अतुल है, जिसने पढ़ने का महत्त्व जान लिया, उसने सौभाग्य का द्वार पा लिया। जिसने विचार की आवश्यकता अनुभव कर ली, उसने विकास का आधा पथ पार कर लिया, यह जानना चाहिए। "स्वाध्याय से बढ़कर आनंद कुछ नहीं" (गांधीजी) और "मुझे नरक में भेज दो वहाँ भी स्वर्ग बना दूँगा, यदि मेरे पास पुस्तकें हों" (लोकमान्य तिलक)—इन दोनों मूर्धन्य महापुरुषों ने ज्ञान की महत्ता उपरोक्त शब्दों में गाई है।

डनफर्मलाइन (स्काटलैंड) में एक बालक जन्मा। उसकी माँ केक बनाती थी और एक छोटी-सी कोठरी में बैठकर, उन्हें बेचा करती थी। पिता फेरी लगाता था, शाम को उतने पैसे मिल जाते थे, जितने से तीनों प्राणी पेट भर लेते थे और आधे फटे कपड़े पहन लेते थे। गरीबी से दु:खी लड़का एक दिन घर से भाग गया और अमेरिका पहुँचकर एक इस्पात कंपनी में चपरासी हो गया। काम उतना था नहीं, इसलिए अपने साहब की अलमारी से कोई किताब निकाल लेता और पढ़ने लगता और कर्मचारी आते और उसे बातचीत में लगाना चाहते पर वह उन्हें किसी न किसी बहाने से टरका देता और फिर अपने पढ़ने में लग जाता। वह इतनी तल्लीनता से पढ़ता कि पुस्तक की अधिकांश बातें एक पाठन में ही याद हो जातीं।

एक दिन एक मीटिंग थी। कोई प्रश्न आ पड़ा उसे मैनेजिंग डाइरेक्टर भी सुलझाने में असमर्थता अनुभव कर रहे थे। वह लड़का पास ही खड़ा था, उसने एक किताब उठाई बीच में से शीघ्रता से एक पृष्ठ खोलकर डाइरेक्टर के आगे बढ़ा दिया। यही वह उत्तर था, जिसकी खोज हो रही थी। बालक की इस असाधारण प्रतिभा से सब हक्के-बक्के रह गए। वह बालक अपनी बुद्धि से उस उद्योग की तमाम तकनीक सीख गया और एक दिन करोड़पति होकर एंडरू कार्नेगी के नाम से विख्यात हुआ। वह श्रेय—जिसने उसे जमीन से

उठाकर आसमान पर पहुँचा दिया—उसकी स्वाध्याय बुद्धि को ही दिया जा सकता है।

एक और वैसा ही निर्धन बालक दक्षिण भारत में भी हुआ है, जिसे अपनी स्वाध्याय की आकांक्षा को तृप्त करने के लिए सड़कों में जलने वाली बत्तियों के नीचे पढ़ना पड़ता था। किताबें खरीदने के लिए पैसे नहीं होते थे, इसलिए वह भी पुस्तकालय की शरण लेता था। इस तरह उसने ज्ञानवृद्धि की साधना सतत् जारी रखी और एक दिन उसकी बौद्धिक प्रतिभा इस योग्य हुई कि ब्रिटिश सरकार ने उसे मद्रास हाइकोर्ट का न्यायाधीश नियुक्त किया। वह बालक—सर टी० एस० मुत्तुस्वामी अय्यर पहले भारतीय थे, जिनको इस तरह का महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किया गया।

ज्ञानार्जन के इस लाभ को जिसने भी समझा, वह गई-गुजरी स्थिति से निकलकर कुछ से कुछ हो गया। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे पुस्तकालयों की उपयोगिता का पता चलता है। संपन्न घरों के लोगों को तो पुस्तकों की कोई कमी नहीं रहती पर एक साधारण नागरिक को जिसे ज्ञान वृद्धि और व्यक्तित्व के विकास की इच्छा होती है, उनके लिए पुस्तकालय ही उपयोगी माध्यम है। उनसे हजारों व्यक्ति संपन्न परिवार की तरह अपनी ज्ञानार्जन पिपासा शांत कर लेते हैं और इस तरह समाज के सैंकड़ों लोग जो विचार और बौद्धिक क्षमता के अभाव में आगे बढ़ने से रह जाते हैं—अपनी उन्नति के लिए भी मार्ग खोज लेते हैं।

इस तथ्य को कनाडा ने अनुभव किया। कनाडा तब निर्धन देश था, जिन दिनों की बात कह रहे हैं। अभी पौने दो-सौ वर्ष ही हुए होंगे, वहाँ शिक्षा की बड़ी कमी थी। सरकार ने बच्चों के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी पर जो शेष नागरिक थे, क्या उन्हें इसी स्थिति पर पड़ा रहने दिया जाए, यह एक गंभीर समस्या थी। उधर उद्योगों के लिए भी कुछ शिक्षित लोगों की आवश्यकता अनुभव की गई। वहाँ के नेताओं ने परस्पर विचार किया और सारे देश में पुस्तकालयों का जाल बिछा दिया। जो बालक पढ़ रहे थे, उन्हें बीच में पढ़ाई छुड़ाकर धंधों में लगा दिया जाता था, इस बीच वे पुस्तकालयों में जाकर ज्ञानार्जन करते रहते थे, क्रम न टूटने पाता था। कुछ वर्ष बाद उन्हें फिर से विशेष हाईस्कूलों में शिक्षा दी जाती थी। वयस्क हो जाने पर फिर उन्हें पुस्तकालयों में पढ़ने के लिए पुस्तकें दी

जाती थीं। अधिक से अधिक सेवा के लिए वहाँ लाइब्रेरियनों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था बनाई गई। कुशल पुस्तकालयाध्यक्षों के मार्गदर्शन में लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास को समुचित अवसर मिला और कनाड़ा देखते ही देखते दुनियाँ के समृद्ध और विकसित देशों की पंक्ति में जा खड़ा हुआ।

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० एस० आर० रंगनाथन ने एक बार जापान की यात्रा की। ओसाका में उन्होंने एक स्थान पर बाहर कतार में खड़े लोगों को पुस्तकें पढ़ते देखा। पढ़ने वालों की अधिक संख्या देखकर उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ, उन्होंने वहाँ जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यह एक पुस्तकालय है, जहाँ प्रतिदिन लोग भारी संख्या में पुस्तकें पढ़ने आते हैं। पूछने पर पुस्तकालय के अध्यक्ष ने बताया कि यह पुस्तकालय ३० वर्ष पहले बना था। तब थोड़े-से आदमियों के आने का अनुमान था, इसलिए उतने ही स्थान की व्यवस्था की गई थी। अब लोग बहुत अधिक आते हैं, इसीलिए सीट रिजर्व कर दी गई है। जिनका नंबर नहीं आता वे लोग अपनी अध्ययन की आकांक्षा को तृप्त करने के लिए बाहर खड़े होकर पढ़ते हैं। हम इस कमी को दूर करने के प्रयत्न में हैं।

जापानी लोगों की इस स्वाध्याय वृत्ति से वहाँ के जीवन में क्या कोई क्रांति हुई है ? इस प्रश्न पर विचार करें तो मालूम होगा कि जापान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली है कि वह एशिया के विकसित देशों में अपना प्रथम स्थान रखता है।

धन कमाना कोई बड़ी बात नहीं है। पढ़े-लिखे और विचारवान् व्यक्तियों के लिए तो वह सबसे छोटी समस्या है। ज्ञान का उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन में शांति और सामाजिक जीवन में सभ्यता और व्यवस्था लाना है, वह भी शिक्षा और ज्ञान के अभाव में पूरा नहीं हो सकता। इसलिए पढ़ना सब दृष्टि से आवश्यक है। पुस्तकालय एक ऐसी व्यवस्था है, जहाँ औसत नागरिक भी अधिकतम ज्ञान और विचार अर्जित कर सकता है।

पुस्तकालय समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य को भोजन, कपड़े और आवास की व्यवस्था हो जाती है तो वह जिंदा रह जाता है, शेष उन्नति तो वह उसके बाद सोचता है। समाज यदि विचारशील है तो वह शांति और सुव्यवस्था की अन्य आवश्यकताएँ

बाद में भी पूरी कर सकता है, इसलिए पुस्तकालय समाज की पहली आवश्यकता है, क्योंकि उससे ज्ञान और विचारशीलता की सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति होती है, किंतु इतना ही काफी नहीं है कि एक स्थान पर पुस्तकें जमा कर दी जाएँ, उनके विषय चाहे जो कुछ हों।

गंदे और दूषित विचार देने वाली पुस्तकों से तो अनपढ़ अच्छा जो बुराई करता है पर बढ़ाता नहीं। जितनी बुराइयाँ बन चुकी हैं, उन्हीं तक सीमित रह जाता है। यथार्थ की आवश्यकता की पूर्ति उन पुस्तकों से होती हैं, जो प्रगतिशील विचार दे सकती हैं। जो समस्याएँ हल कर सकती हैं, जो नैतिक और सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक, सामाजिक और विश्वबंधुत्व की प्रेरणाएँ और शिक्षाएँ भी दे सकती हैं।

एक बार इंग्लैंड में भी ऐसी ही क्रांति उठी थी। वहाँ भी जनता के लिए स्थान-स्थान पर पुस्तकालय स्थापित किए गए। काफी समय तक इसमें अधिक कोई दिलचस्पी न ली गई पर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय शासनाध्यक्षों ने पाया कि चारित्रिक और नैतिक दृष्टि से इंग्लैंड का स्तर बहुत नीचे गिर गया है। उसके कारणों की विस्तृत खोज-बीन की गई तो यह पाया गया कि वे पुस्तकालय ही इसके कारण हैं, जिन्हें जनता के बौद्धिक विकास के लिए स्थापित किया गया था। हुआ यह कि वहाँ के अधिकाश युवकों ने उपन्यास और कामोत्तेजक साहित्य में ही ज्यादा रुचि ली। सृजनात्मक साहित्य उपेक्षित पड़ा रहा। जैसे विचार लोगों ने पढ़े वैसी ही मनोवृत्ति बनती गई।

अब वहाँ एक योजना बनाई गई। पुस्तकालयाध्यक्ष प्रशिक्षित किये गए और उन्हें बताया गया कि यदि कोई स्त्री पुस्तक लेने आती है तो पहले यह पूछो कि उसकी समस्याएँ क्या हैं ? उदाहरणार्थ यदि वह कम शिक्षित है तो उसे हल्की-फुल्की साहस और नैतिकता की पुस्तकें पढ़ने को दो और यह भी कहो कि वह यह कहानियाँ बच्चों को भी सुनाया करे। इसी प्रकार यदि कोई शिक्षित स्त्री है तो उसे बाल-समस्या, बाल-कल्याण, परिवार मनोविज्ञान की पुस्तकें दो। इस योजनाबद्ध तरीके से वहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए अनुसंधान प्रारंभ हुए। अंग्रेजी साहित्य ही आज एकमात्र ऐसा साहित्य है, जिसमें मनुष्य जीवन के किसी भी पहलू पर विचार और शोध—जानकारियाँ मिल सकती हैं, यह उसी योजनाबद्ध 'पुस्तकें पढ़ाओ' अभियान का चमत्कार है। वहाँ

८० प्रतिशत से भी अधिक लोग पुस्तकालयों का लाभ उठाते हैं। जहाँ पुस्तकें नहीं हैं, वहाँ भी चल-पुस्तकालयों द्वारा पुस्तकें पहुँचाई जाती हैं।

इससे लोगों की सुख-समृद्धि का द्वार खुल गया। बैकबेल नामक एक गाँव के एक युवक ने पुस्तकालय में उपलब्ध 'इलैक्टॉनिक्स' की तमाम पुस्तकें पढ़ीं, वह बेरोजगार था। इन पुस्तकों के सहारे वह रेडियो बनाना सीख गया, यही नहीं रेडियो इंजीनियरी की भी बहुत-सी तकनीकें उसने सीखीं। इंग्लैंड का औसत नागरिक विश्व समस्याओं, परिस्थितियों और ज्ञान-विज्ञान से लेकर छोटे-छोटे उद्योगों तक की इतनी जानकारी रखता है, जितनी भारतवर्ष का एम० ए० उत्तीर्ण छात्र भी नहीं जानता होगा, यह सब उनकी स्वाध्याय वृत्ति का ही प्रतिफल है।

यह छोटे उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि मस्तिष्क को संस्कारवान् और ज्ञान से परिपूर्ण कर लेने पर मनुष्य व्यक्तिगत उन्नति ही नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय समृद्धि का भी द्वार खोलता है। इन लाभों को देखते हुए भारतवर्ष में भी पुस्तकालयों का जाल बिछाने की आवश्यकता अनुभव हो रही है। यदि कुछ विचारवान् व्यक्ति अथवा राजनैतिक नेता इसे एक अभियान का स्वरूप प्रदान कर दें तो देश देखते-देखते धरती से आकाश में पहुँच सकता है।

□□

अपने रहने की दुनियाँ आप बनाएँ

जिस दुनियाँ में हम रहते हैं उसमें श्रेष्ठता प्रयत्नपूर्वक तलाश करनी पडी है। निकृष्टता के तो हर दिशा में पहाड़ दिखाई देंगे। नैतिक, पराभव और पतन की परिस्थितियाँ मक्खी-मच्छरों की तरह उपजती, बढ़ती रहती हैं, पर उपयोगी प्राणियों को तो प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ना और पालना पड़ता है। ओछापन, ओछी परिस्थितियों की ओर आकर्षित होता है। सुसंस्कृत मनुष्य सदा अल्पमत में रहे हैं, फिर श्रेष्ठता का प्रभाव क्षेत्र भी उतना विस्तृत नहीं होता जितना निकृष्टता

का। पानी नीचे की ओर बहता है और मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियाँ उसे नीचे की ओर धकेलती ही नहीं, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की तरह अपनी ओर घसीटती भी हैं। सामान्य बुद्धि को सांसारिक विकृतियाँ ही प्रभावित करती हैं।

संकीर्ण स्वार्थपरता का इन दिनों दौर-दौरा है। आदर्शों की ओर कदम बढ़ाने की अपेक्षा लोग निकृष्ट क्रिया-कृत्यों की ही बात सोचते हैं। उज्ज्वल भविष्य की निर्माण करने की अपेक्षा लोगों को तात्कालिक लाभ कमाने में अधिक रुचि है। भले ही उसके लिए अनीति का मार्ग ही क्यों न अपनाना पड़ता हो। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि धूर्तों में से कितने ही सफल और सुसंपन्न भी दीखते हैं। अस्तु सहज ही सामान्य बुद्धि का रुझान नीतिमत्ता की दूरदर्शिता अपनाने की अपेक्षा—किसी भी उपाय से तुरंत लाभान्वित होने की ओर ही होता है। दृष्टि पसारकर हम अपने चारों ओर ऐसा ही वातावरण छाया देखते हैं। उसका प्रभाव भी पड़ता है। बहुमत का अनुकरण मनुष्य की एक ऐसी ही दुर्बलता है, जिसे कठिनाई से ही रोकना और बदलना संभव हो पाता है।

श्रेष्ठता की दिशा में चलना हो, यदि उत्कृष्टता और आदर्शवादिता को लक्ष्य बनाना हो तो भी उसके लिए प्रेरक वातावरण बनाना पड़ेगा। ऐसा परिकर जहाँ हो वहाँ रहने का भी प्रभाव पड़ता है। श्रेष्ठ व्यक्तियों का निकटवर्ती वातावरण संपर्क में आने वालों को प्रभावित करता है और उसकी गतिविधियों में उपयोगी परिवर्तन प्रस्तुत करता है। पर ऐसा वातावरण हर जगह—हर किसी के लिए कहाँ उपलब्ध होता है ? फिर उसमें रह सकने की परिस्थितियाँ कितनों को उपलब्ध होती हैं ? जनसाधारण को तो आजीविका उपार्जन एवं परिवार पोषण के क्रिया-कृत्यों में ही व्यस्त रहना पड़ता है। दो-पाँच दिन कहीं चले भी जाएँ तो उतने भर से काम भी क्या बनेगा ? अधिक दिन सत्संग का लाभ लेने के लिए जा सकना आर्थिक तथा दूसरे कारणों से कहाँ बन पाता है ?

ऐसी दशा में श्रेष्ठता की दशा में अग्रसर कर सकने वाला प्रभावोत्पादक वातावरण अपने आप ही बनाना पड़ता। मस्तिष्क पर छाया छोड़ने वाला एक ऐसा समानांतर संसार विनिर्मित करना होता है जो स्वार्थ संलग्न दुनियाँ के प्रभाव को निरस्त कर सके। यह

निर्माण प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष ही हो सकता है। स्वाध्याय और चिंतन के सहारे यह निर्माण खड़ा किया जा सकता है। अपनी रुचि के भविष्य का मार्गदर्शन कर सकने वाले जीवन-चरित्रों का संग्रह करना चाहिए। उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए और उनमें जो प्रेरक प्रसंग हों—अपनी वर्तमान परिस्थितियाँ कार्यान्वित हो सकने योग्य हों, उन्हें अलग से नोट कर लेना चाहिए। जब भी अवकाश मिले उन प्रसंगों के कल्पना चित्र मस्तिष्क में एक सुनियोजित फिल्म की तरह प्रस्तुत करने चाहिए। श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हुए समुन्नत स्थिति तक पहुँचे हुए महामानवों की जीवनियाँ, गतिविधियाँ, नीतियाँ यदि अपने कल्पना लोक में दृढ़तापूर्वक जड़ें जमा सकें और अनायास ही स्मरण आती रहें तो समझना चाहिए कि बाहरी दुनियाँ के पतनोन्मुख प्रभाव को निरस्त कर सकने वाला स्वनिर्मित वातावरण बनकर तैयार हो गया।

अपनी मानसिक दुर्बलताएँ अभ्यस्त आदतें—विकृत-अभिरुचियाँ निकृष्टता की ओर खींचती हैं। कुटुंबियों के स्वार्थ, मित्रों के दबाव तथा चाल लोक प्रवाह अपनी संयुक्त शक्ति से सामान्य मनुष्य को वैसी ही गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं जैसी कि दुनियाँदारों ने अपना रखी हैं। श्रेष्ठता की प्रेरणा भर देने वाले और उत्कृष्टता की ओर बढ़ चलने का मार्गदर्शन करने वाले प्रेरक प्रसंगों को तो इतिहास के पृष्ठों पर ही खोजा जा सकता है। आज भी वैसे जो लोग हैं, उनके साथ मानसिक संबंध ही बनाया जा सकता है। न तो अपने लिए उनके पास निरंतर रहना संभव है और न वे ही अपना निवास अपने पड़ौस में बना सकते हैं। व्यावहारिक मार्ग एक ही है कि अपनी एक भावनात्मक दुनियाँ अलग ही बसाई जाए जिसमें श्रेष्ठ महामानवों की ही निवास करने के लिए आमंत्रित किया जाए। उसमें प्रेरणाप्रद घटनाओं की हलचलें ही दृष्टिगोचर होती रहें, भले ही वे आज की न होकर भूतकाल में ही घटित क्यों न हुई हों। यही बात परामर्श के संबंध में भी है। श्रेष्ठ सज्जनों से वार्तालाप कर सकना उनके साहित्य द्वारा बड़ी सरलतापूर्वक संभव हो सकता है। जीवित लोगों से परामर्श करने के लिए उनके पास जाने और उन्हें अवकाश होने न होने की भी कठिनाई आती है, पर स्वाध्याय के माध्यम से तो यह सुविधा हर घड़ी उपलब्ध हो सकती है। जिस भी महामानव से कुछ पूछताछ करनी हो उसके साहित्य में से अपने काम के प्रसंग

ढूँढ़ने और पढ़ने का कार्य कठिन नहीं सरल है। वह अपनी सुविधा के समय कभी भी किया जा सकता है।

प्रस्तुत समस्याओं का समाधान और प्रगति पथ पर अग्रसर होने का पथ प्रदर्शन कर सकने वाली पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ बजट नियत रखना चाहिए। शरीर और परिवार पर ढेरों समय और धन खर्च किया जाता है। यदि मन और अंतःकरण का मूल्य महत्त्व समझा जा सके तो उनके परिपोषण पर कुछ खर्च करते रहना भी आवश्यक प्रतीत होगा। अनुपयोगी समझी जाने वाली बातों की उपेक्षा करनी पड़ती है और उन्हीं के लिए पैसे तथा समय की कमी का बहाना खोजना पड़ता है। महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो प्राथमिकता एवं प्रमुखता ही मिलती है। यदि बौद्धिक एवं भावना क्षेत्र का महत्त्व समझा जा सके और उसके परिष्कृत होने पर मिलने वाले लाभों की कल्पना की जा सके तो निश्चय ही उस प्रयोजन के लिए नियमित रूप से कुछ धन और समय लगाते रहने में तनिक भी कठिनाई प्रतीत न होगी। स्वास्थ्य को आहार के समतुल्य ही महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए।

ऐसा सत्साहित्य समीपवर्ती पुस्तकालयों में भी मिल सकता है। थोड़ी मासिक फीस देते रहने पर उसकी सुविधा हो सकती है। सही रूप में वापिस लौटाने का विश्वास दिलाया जा सके तो अन्य उदार स्वाध्यायशील व्यक्ति भी अपनी पुस्तकें पढ़ने को दे सकते हैं। सरसरी नजर से पढ़ने और पुस्तकें एक ओर पटकते जाने से बहुपठित होने का दावा तो किया जा सकता है, पर वह लाभ नहीं मिल सकता जो स्वाध्यायशीलों को मिला करता है। आवश्यक है कि प्रेरक-प्रसंगों और संदर्भों की नोटबुक बनाकर रखी जाए और जो हृदयग्राही लगा हो उसे उसमें नोट करते चला जाए। यह संकलन निश्चय ही समुद्र मंथन के फलस्वरूप निकले हुए रत्नों की तरह बहुमूल्य होगा। इस संग्रह को अवकाश के समय बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा जाए और यह सोचा जाए कि इन प्रसंगों के अनुरूप कदम बढ़ा सकना किस प्रकार संभव हो सकता है ? सद्विचारों को व्यवहार में उतारने में क्या कठिनाई पड़ेगी और उसका किस सीमा तक निराकरण संभव हो सकता है ?

स्वाध्याय से मार्गदर्शन मिलता है। घटनाएँ सामने आती हैं और परामर्श मिलते हैं। पर बात इतने भर से ही नहीं बन जाती। सोचना यह

भी होगा कि प्रगति पथ पर चलना आज की स्थिति में कितना और किस प्रकार सुलभ हो सकता है ? योजना तो हर काम की बनानी पड़ती है। उसके बिना तो छुट-पुट दैनिक कार्य भी नहीं हो पाते। कृषि-व्यापार आदि में योजनाबद्ध कदम उठाते हैं। सरकारें तो योजना निर्माण विभाग पर ढेरों साधन खर्च करती हैं। जीवन विकास की प्रक्रिया भी अनायास ही नहीं बन जाती और इस दिशा की प्रगति जादू की छड़ी घुमाने भर से संभव नहीं हो सकती। अनभ्यस्त को अभ्यास में उतारना निश्चय ही एक बड़ी बहादुरी का काम है। ढर्रे को बदलकर नए सिरे से कोई नए आधार खड़े करने में सुदृढ़ संकल्प शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इस परिवर्तन में आने वाली कठिनाइयों की कल्पना करनी पड़ती है और उनके निवारण करने के उपाय खोजने होते हैं किस क्रम से, क्या कदम कब उठाए जाएँ और किस तरह लंबी मंजिल को निश्चय और साहस के साथ पूरा किया जाए, इसकी सुव्यस्थित रूपरेखा बनाकर चखने से ही अभीष्ट मनोरथ सिद्ध होता है।

श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के सत्परिणामों की कल्पना करने से उत्साह बढ़ता है और उस दिशा में उत्कंठा प्रबल होती है। मात्र कठिनाई और हानि की बात सोचते रहने से मन छोटा पड़ता है और अचेतन उसे टालने या अस्वीकार करने की भूमिका बना देता है, फलतः सपने ज्यों के त्यों धरे रह जाते हैं। कल्पनाएँ तो उठती हैं, पर ऐसे ही पानी के बुदबुदों की तरह दूसरे ही क्षण समाप्त हो जाती हैं। महामानवों ने आदर्शवादिता को दृढ़तापूर्वक अपनाए रहने पर अंततः जिन सत्परिणामों को प्राप्त किया है। उन पर विचार करने और अपनी स्थिति भी कभी उन्हीं जैसी ही जाने का कल्पना-चित्र यदि मनःक्षेत्र पर अधिक स्पष्ट रूप से उतारा जा सके तो उससे निश्चय ही उत्साहवर्धक प्रेरणा मिलेगी और उधर कदम उठाने का साहस बढ़ेगा।

तत्काल थोड़ा-सा लाभ उठाने के प्रलोभन में भविष्य को अंधकारमय बना देने वाले लोगों के वृत्तांत तो अपने इर्द-गिर्द ही खोजे जा सकते हैं। उनके लिए इतिहास पढ़ने या साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने जिस-तिस तरह कमाया तो बहुत पर वह दुर्व्यसनों में गँवाते रहे। जो बचा उसे कुपात्रों ने हड़प लिया। इन कुपात्रों में ठग, तस्कर भी हो सकते हैं और तथाकथित प्रियजन भी। उपयोगी वह—जिससे हितसाधन हो

सकें। अनुदान वह—जिससे सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ सकें। इन कसौटियों पर जो खरा नहीं उतरा वह उपयोग और अनुदान अबुद्धिमत्तापूर्ण ही माना जाएगा। ऐसी ही विडंबनाओं में उलझा और नष्ट हुआ जीवन किस प्रकार सफल कहा जाएगा। ओछा हेय एवं निकृष्ट जीवन व्यतीत करते हुए किसी प्रकार मौत के दिन पूरे कर लेने में क्या समझदारी रही ? उचित और उपयुक्त यही है कि इस सुर दुर्लभ अवसर का ऐसा उपयोग किया जाए जिससे आत्म-गौरव बढ़े—अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत हो—लोकश्रद्धा बरसे और ईश्वर की प्रसन्नता का आनंद मिले। यह सार्थकता श्रेष्ठता के सम्मान पर चलने से ही संभव हो सकती है। स्पष्ट है कि ऐसे अवसर उन्हीं को मिलते हैं जिन्होंने अपने लिए एक आदर्शवादी प्रेरणाओं से भरा-पूरा भावनामय संसार अपने ही हाथों से गढ़ा और खड़ा किया है।

उत्कृष्ट विचारों का सतत सान्निध्य रहे—

सद्‌विचारों की महत्ता का अनुभव तो हम करते हैं पर उनकी दृढ़ता नहीं रह पाती। जब कोई अच्छी पुस्तक पढ़ते या सत्संग, प्रवचन सुनते हैं तो इच्छा होती है कि इसी अच्छे मार्ग पर चलें। पर जैसे ही वह प्रसंग पलटा कि दूसरी प्रकार के, पूर्व अभ्यास, विचार पुनः मस्तिष्क पर अधिकार जमा लेते हैं और वही पुराना घिसा-पिटा कार्यक्रम पुनः चलने लगता है। इस प्रकार उत्कृष्ट जीवन बनाने की आकांक्षा एक कल्पना मात्र बनी रहती है, उसके चरितार्थ होने का अवसर प्रायः आने ही नहीं पाता।

कारण यह है कि अभ्यस्त विचार बहुत दिनों से मस्तिष्क में अपनी जड़ जमाए हुए हैं, मन उनका अभ्यस्त भी बना हुआ है। शरीर ने एक स्वभाव एवं ढर्रे के रूप में उन्हें अपनाया हुआ है। इस प्रकार उन पुराने विचारों का पूरा आधिपत्य अपने मन और शरीर पर जमा हुआ है। यह आधिपत्य हटे और नए उत्कृष्ट विचार वह स्थान ग्रहण करें तो ही यह संभव है कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अंतःकरण चतुष्टय बदले। जब अंतः भूमिका बदलेगी तब उसका प्रकाश बाह्य कार्यक्रमों में दृष्टिगोचर होगा। परिवर्तन का यही तरीका है।

उच्च विचारों को बहुत थोड़ी देर हमारी मनोभूमि में स्थान मिला है। जितनी देर सत्संग, स्वाध्याय का अवसर मिलता है उतने थोड़े समय ही तो अच्छे विचार मस्तिष्क में ठहर पाते हैं। इसके बाद

वही पुराने कुविचार आँधी-तूफान की तरह आकर उन श्रेष्ठ विचारों की छोटी-सी बदली को उड़ाकर एक ओर भगा देते हैं। निकृष्ट विचारों में तात्कालिक लाभ और आकर्षण स्वभावतः अधिक होता है, चिरकाल से अभ्यास में आते रहने के कारण उनकी जड़ें भी बहुत गहरी हो जाती हैं। इन्हें उखाड़कर नए श्रेष्ठ विचारों की स्थापना करना सचमुच बड़े अध्यवसाय का काम है।

किसी घने जंगल में कंटीली झाड़ियाँ सारी भूमि को घेरे रहती हैं, गहराई तक अपनी, जड़ें जमाए रहती हैं। यदि उस जंगल को कृषि योग्य बनाना हो तो वह झाड़-झंखाड़ काटने की व्यवस्था करनी पड़ती है। फिर भूमि खोदकर जड़ें उखाड़नी पड़ती हैं। जोतकर खेत को एक समान करना पड़ता है। खाद और पानी की व्यवस्था जुटानी होती है। इतना प्रबंध करने पर ही वह घने जंगल की ऊबड़-खाबड़ भूमि परिपूर्ण अन्न उपजाने वाली कृषि भूमि के योग्य बन पाती है। मनोभूमियों को सत्कर्मों की, सद्भावनाओं की हरी-भरी फसल उगने योग्य बनाने के लिए ऐसा ही पुरुषार्थ किया जाना आवश्यक होता है।

दस-पाँच मिनट कुछ पढ़ने, सुनने या सोचने, चाहने से ही परिष्कृत मनोभूमि का बन जाना और उसके द्वारा सत्कर्मों का प्रवाह बहने लगना कठिन है। इसलिए क्रमबद्ध, योजनाबद्ध, दीर्घकालीन और सुस्थिर प्रयत्न करना होता है। फैलाया हुआ पानी नीचे की ओर आसानी से बिना प्रयत्न के बहने लगता है। पर यदि उसे ऊपर पहुँचाना हो तो इसके लिए कई उपकरण जुटाने की व्यवस्था की जाती है। बिना विशेष प्रयत्नों के पानी ऊपर नहीं चढ़ सकता है। इसी प्रकार स्वल्प प्रयत्नों से मनोभूमि का परिवर्तन भी संभव नहीं और बिना आंतरिक परिवर्तन के बाह्य जीवन में श्रेष्ठता की स्थापना हो ही कैसे सकती है ?

जैसे विचारों को जितनी तीव्रता और निष्ठा के साथ जितनी अधिक देर मस्तिष्क में निवास करने का अवसर मिलता है, वैसे ही प्रभाव की मनोभूमि में प्रबलता होती चलती हैं। देर तक स्वार्थपूर्ण विचार मन में रहें और थोड़ी देर सद्विचारों के लिए अवसर मिले, तो वह अधिक देर रहने वाला प्रभाव कम समय वाले प्रभाव को परास्त कर देगा। इसलिए उत्कृष्ट जीवन की वास्तविक आकांक्षा करने वाले के लिए एक ही मार्ग रह जाता है कि मन में अधिक समय तक अधिक प्रौढ़, अधिक प्रेरणा प्रद उत्कृष्ट कोटि के विचारों को स्थान मिले।

जिसका बहुमत होता है उसकी जीत होती है। बहती गंगा में यदि थोड़ा मैला पानी पड़ जाए तो उसकी गंदगी प्रभावशाली न होगी, पर यदि गंदे नाले में थोड़ा गंगाजल डाला जाए तो उसे पवित्र न बनाया जा सकेगा। इसी प्रकार यदि मन में अधिक समय तक बुरे विचार भरे रहेंगे तो थोड़ी देर थोड़े-से अच्छे विचारों को स्थान देने से भी कितना काम चलेगा ? उचित यही है कि हमारा अधिकांश समय इस प्रकार बीते, जिससे उच्च भावनाएँ ही मनोभूमि में विचरण करती रहें।

संसार में बुराई इसलिए फैली है कि लोगों के मन में बुरे विचारों का बाहुल्य रहता है। चोर, डाकू, जुआरी, व्यभिचारी, व्यसनी अपने विचारों के पक्के होते हैं। जो उन्हें ठीक जँच गया है, उसी इच्छा की पूर्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करते हैं। निष्ठा के अनुरूप काम करने से भावनांतर में परिपक्वता आती है और उस परिपक्वता में दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता भरी रहती है।

शराबी अपने विचारों में पक्का होता है। बदनामी, धनहीनता और स्वास्थ्यनाश की परवाह न करके भी वह शराब पीता है। मन और कर्म की इस एकता से जो दृढ़ता उसमें रहती है, उसके फलस्वरूप कई अन्य कमजोर प्रकृति के मनुष्य भी उसके प्रभाव में आकर शराब पीना सीख जाते हैं। चरित्र शिक्षण की यही पद्धति सफल होती है। बुरे स्तर के व्यक्ति अपनी बुराइयों में तन्मय रहकर दूसरे अनेकों को अपना साथी बनाते और बुराई सिखाते हैं।

बुराई की ही भाँति अच्छाई में भी अपनी शक्ति एवं विशेषता होती है। पर वह प्रभावशाली तभी बनती है, जब मन वचन और कर्म में एकता हो। यदि प्रौढ़ और परिपक्व आचरण के श्रेष्ठ व्यक्ति कभी प्रकाश में आते हैं तो उनसे भी अगणित लोग प्रेरणा प्राप्त करते हैं। गाँधी का प्रभाव अभी पिछले ही दिनों हम लोगों ने आँखों से देखा है। उनकी प्रेरणा से अगणित व्यक्तियों की भावनाएँ बदली और लाखों व्यक्तियों ने हँसते-हँसते भारी बलिदान की जोखिम उठाई।

अच्छाई इसीलिए पनप नहीं पाती कि उसका शिक्षण करने वाले ऐसे लोग नहीं निकल पाते जो अपनी एक निष्ठा के द्वारा दूसरों की अंतरात्मा पर अपनी छाप छोड़ सकें। अपने अवगुणों का छिपाने के लिए या सस्ती प्रशंसा प्राप्त करने के लिए धर्म का आडंबर मात्र ओढ़ लेते हैं। 'पर उपदेश कुशल' बहुत हैं पर जो आदर्शों को दैनिक

जीवन में कार्यान्वित करें ऐसे लोग कम हैं। यही कारण है कि अच्छाई बढ नहीं पाती, फैल नहीं पाती। यदि सज्जनतापूर्ण सच्चे व्यक्तित्व प्रकाश में आने लगें तो उनके प्रभाव से अच्छाइयाँ भी तेजी से फैलें। बुराई का स्थान अच्छाई को मिल जाए और युग परिवर्तन की बात कुछ भी कठिन दिखाई न दे।

उत्कृष्ट एवं प्रौढ़ विचारों को अधिकाधिक समय तक हमारे मस्तिष्क में स्थान मिलता रहे ऐसा प्रबध यदि कर लिया जाए तो कुछ ही दिनों में अपनी इच्छा, अभिलाषा और प्रवृत्ति उसी दिशा में ढल जाएगी और बाह्य जीवन में वह सात्विक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगा। विचारों की शक्ति महान है, उससे हमारा जीवन तो बदलता ही है संसार का नक्शा भी बदल सकता है।

कैसा अच्छा होता कि प्राचीनकाल की तरह जीवन के प्रत्येक पहलू पर उत्कृष्ट समाधान प्रस्तुत करने वाले साधु, ब्राह्मण आज भी हमें उपलब्ध रहे होते। वे अपने उज्ज्वल चरित्र, सुलझे हुए मस्तिष्क और परिपक्व ज्ञान द्वारा सच्चा मार्ग दर्शन करा सकते तो कुमार्ग पर ले जाने वाली सभी दुष्प्रवृत्तियाँ शमन होतीं। पर आज उनके दर्शन दुर्लभ हैं। जो देश काल पात्र की स्थिति का ध्यान रखते हुए आज के बुद्धिवादी एवं संघर्षमय युग के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करके जीवन को ऊँचा उठाने वाले व्यावहारिक सुझाव दे सकें, आज ऐसे मनीषी कहाँ हैं ? उनका अभाव इतना अखरता है कि चारों ओर सूना दीखता है। ऋषियों की यह भूमि ऋषि-तत्त्व से रहित हो गई जैसी लगती है।

दुर्भाग्य एक और भी है कि स्वाध्याय के उपयुक्त साहित्य भी कहीं-कहीं ही दृष्टिगोचर होता है। पुस्तक विक्रेताओं की दुकानें खोज मारने पर मुश्किल से ही कुछ पुस्तकें ऐसी मिलेंगी जो जीवन निर्माण के लिए आज की परिस्थितियों को ध्यान में रखते व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत करती हों। प्रेसों में ऐसा कूड़ा-कचरा दिन-रात छपता है, जिसे पढ़कर लोगों के दिमाग और भी अधिक खराब हों।

आज की परिस्थितियों में जो भी संभव हो, ऐसा हमें साहित्य तलाश करना चाहिए जो प्रकाश एवं प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता से संपन्न हो। उसे पढ़ने के लिए कम से कम एक घंटा निश्चित रूप से नियत करना चाहिए। धीरे-धीरे समझकर विचारपूर्वक उसे पढ़ना चाहिए। पढने के बाद उन विचारों पर बराबर मनन करना चाहिए।

जब भी मस्तिष्क खाली रहे यह सोचना आरंभ कर देना चाहिए कि आज के स्वाध्याय में जो पढ़ा गया था, उस आदर्श तक पहुँचने के लिए हम प्रयत्न करें, जो कुछ सुधार संभव है, उसे किसी न किसी रूप में जल्दी ही आरंभ करें। श्रेष्ठ लोगों के चरित्रों को पढ़ना और वैसा ही गौरव स्वयं भी प्राप्त करने की बात सोचते रहना, मनन और चिंतन की दृष्टि से आवश्यक है।

जितनी अधिक देर तक मन में उच्च भावनाओं का प्रवाह बहता रहे उतना ही अच्छा है। ऐसा साहित्य हमारे लिए संजीवन बूटी का काम करेगा उसे पढ़ना और अपने अत्यंत प्राणप्रिय कामों में से एक बना लेना चाहिए। सुलझे हुए विचारों के सच्चे मार्गदर्शक न मिलने के अभाव की पूर्ति इस साहित्य से संभव है। आज उलझे हुए विचारों के लोग बहुत हैं। धर्म के नाम पर आलस्य, अकर्मण्यता, निराशा, दीनता, कर्त्तव्य की उपेक्षा, स्वार्थपरता, संकीर्णता की शिक्षा देने वाले सत्संगों से जितनी दूर रहा जाए, उतना ही कल्याण है।

कहीं से भी, किसी प्रकार से भी जीवन की समुचित बनाने वाले, सुलझे हुए उत्कृष्ट विचारों को मस्तिष्क में भरने का साधन जुटाना चाहिए। स्वाध्याय से, सत्संग से, मनन से, चिंतन से जैसे बन पड़े वैसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि हमारा मस्तिष्क उच्च विचारधारा में निमग्न रहे। यदि इस प्रकार के विचारों में मन लगने लगे, उनकी उपयोगिता समझ पड़ने लगे, उनको अपनाते हुए आनंद का अनुभव होने लगे तो समझना चाहिए कि आधी मंजिल पार कर ली गई।

स्वाध्याय, नित्य करना ही चाहिए—

गीता में कहा गया है—**"नहिं ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते"** अर्थात् इस संसार में ज्ञान से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है। यदि हम इस संसार में सर्वश्रेष्ठ वस्तु तलाश करना चाहें तो अंततः 'ज्ञान' को ही वह श्रेष्ठता की योग्यता एवं परिस्थितियों के व्यक्ति अत्यंत उच्चकोटि का स्थान प्राप्त करते हैं। ज्ञान को ही पारसमणि कहा गया है। लोहा पारस को छूकर सोना बन जाता है या नहीं ? पारस कहीं है या नहीं ? यह बातें संदिग्ध हैं। पर ज्ञान रूपी पारस को स्पर्श कर तुच्छ श्रेणी के व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे स्थान पर पहुँचे हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

शरीर की दृष्टि से मनुष्य अल्पबुद्धि पशु-पक्षियों से भी गया बीता है। उनके शरीर में जो भागने, बोझ उठाने, उड़ने, सर्दी-गर्मी सहने, बीमार

न होने आदि की विशेषताएँ हैं, वे मनुष्य शरीर में नहीं है। फिर भी उन सबकी अपेक्षा अधिक साधन संपन्न हो सका इसका एक मात्र कारण उसका ज्ञान ही है। जब कभी किसी व्यक्ति का दिमाग खराब हो जाता है, ज्ञान शक्ति में अंतर आ जाता है, तो शरीर ज्यों का त्यों रहने पर भी उसकी स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। इसके विपरीत ज्ञानवान व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से गए बीते होने पर भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किए रहते हैं। ज्ञान की महिमा अपार है। गीताकार ने उसे सर्वश्रेष्ठ तत्त्व कहकर पुकारा तो उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

शारीरिक और मानसिक बनावट की दृष्टि से सभी मनुष्य लगभग एक से होते हैं। उनमें जो अंतर होता है उसे बहुत थोड़ा ही कहा जा सकता है किंतु आंतरिक स्थिति की विचार और विवेक की भिन्नता के कारण उनमें जो अंतर देखा जाता है वह असामान्य है। संसार में जितने हीं महापुरुष हुए हैं, उन्होंने अपने अंतःकरण का विकास अवश्य ही किया। यदि वह न किया गया होता तो वे अन्य असंख्य साधन-सुविधाओं के होते हुए भी उस उच्च स्थिति के अधिकारी न हुए होते।

क्या सामाजिक, क्या व्यक्तिगत जीवन में—सर्वत्र विचार शक्ति का ही बोलबाला है जब अज्ञानपूर्ण कुविचारों की मात्रा बढ़ जाती है तो पाप, अनाचार, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता, क्रोध, छल, शोषण, असंयम, तृष्णा, लोभ, विलासिता का साम्राज्य बढ़ता है। फलस्वरूप रोग, शोक, क्लेश, भय, चिंता एवं दीनता का अंधकार छा जाता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में यह परिस्थिति पैदा हुई तो वह नरक बनेगा और यदि यह प्रवृत्तियाँ—सार्वजनिक, सामाजिक जीवन में बढ़ीं तो सारा समाज इन दुःख द्वंद्वों में ग्रस्त होकर अधःपतन के सत्यानाशी मार्ग पर अग्रसर होगा। इसके विपरीत यदि सद्ज्ञान के आधार पर अंतःप्रदेश में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ीं—दया, प्रेम, उदारता, संयम, सदाचार, स्नेह, सहयोग एवं सेवा की भावनाएँ विकसित हुईं—तो चाहे व्यक्तिगत जीवन हो, चाहे सामाजिक जीवन, दोनों में ही सुख-शांति, समृद्धि, सहयोग, संगठन, आरोग्य, मैत्री, सुरक्षा की स्वर्गीय परिस्थितियाँ स्वयमेव पैदा हो जाएँगी।

ज्ञान के दो अंग हैं एक शिक्षा दूसरा विद्या। शिक्षा वह है जो स्कूल कालेजों में पढ़ाई जाती है, जिसे पढ़कर लोग ग्रेजुएट, क्लर्क, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर, अफसर आदि बनते हैं। यह जीविकोपार्जन एवं लोक व्यवहार में निपुणता प्राप्त करने के लिए है। यह आवश्यक है

क्योंकि इसके बिना सांसारिक जीवन में सुस्थिरता एवं उन्नति का मार्ग नहीं खुलता। पर इससे भी आवश्यक 'विद्या' है। जिस ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य अपनी मान्यताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं एवं आदर्शों का निर्माण करता है, उसी ज्ञान को विद्या कहा जाता है। इसे प्राप्त करने का माध्यम स्कूल, कालेज नहीं वरन् 'स्वाध्याय' और सत्संग हैं। चिंतन और मनन से, सत्साहित्य पढ़ने से, सज्जनों के साथ रहने, उनके अभिवचन सुनने एवं कार्यकलाप देखने से विद्या का आविर्भाव होता है।

जिस ज्ञान को संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ कहा गया है वह विद्या ज्ञान ही है। स्कूली ज्ञान तो करोड़ों मनुष्यों को है। उससे थोड़ा लौकिक विकास तो जरूर होता है पर आंतरिक महानता किसी की नहीं बढ़ती। आत्म निर्माण की, चरित्र गठन की, सत्प्रवृत्तियों की भावनाएँ जागृत करने वाले सद्विचारों को ही सच्चा ज्ञान कहा जा सकता है। यही जीवन को सफल बनाने वाला सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। इसे प्राप्त करने के लिए हम में से हर एक की शक्ति भर सत्संग के साधन जब भी उपलब्ध हों, सत्पुरुषों के साथ विचार-विनिमय एवं सान्निध्य जब भी संभव हो, तब उसका लाभ उठाना चाहिए, पर यह है बहुत कठिन, क्योंकि ऐसे अनेक सत्पुरुषों का एक साथ मिलना दुर्लभ है, जिनके विचारों में से उचित अंश को ग्रहण करके अपना ज्ञानकोष पूरा किया जा सके। कोई व्यक्ति सत्पुरुष होते हुए भी सर्वथा निर्भ्रांति नहीं होता। यदि उसके सभी विचारों को ठीक माना जाए तो उस सत्पुरुष में जो भ्रांति थी वह भी अपने पल्ले बँध जाएगी। भगवान बुद्ध अत्यंत उच्चकोटि के त्यागी तपस्वी महापुरुष थे, उनकी अधिकांश शिक्षाएँ बड़ी उत्तम है पर ईश्वर को न मानने का उनका सिद्धांत उचित नहीं माना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति बुद्ध भगवान पर अनन्य श्रद्धा करके उनके विचारों में से उचित-अनुचित की काट-छाँट न करे तो उसे अनीश्वरवादी बनना पड़ेगा और उस मान्यता के दुष्परिणामों को भी भोगना पड़ेगा। संसार का हर व्यक्ति अपूर्ण है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों के सब विचार निर्भ्रांत ही होंगे यह नहीं कहा जा सकता। उनकी वार्ता में से उपयोगी, बुद्धि संगत और देशकाल परिस्थिति के अनुरूप विचारों को छाँटकर ग्रहण किया जाए इसके लिए आवश्यक है कि सत्संग के लिए अनेक सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त हो। यह कठिन है क्योंकि ऐसे श्रेष्ठ विचारशील सत्पुरुष न तो बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं न वे अपने समीप ही रहते हैं। फिर वे इतने कार्य व्यस्त भी होते

हैं, कि हर जिज्ञासु के लिए अभीष्ट सम्मति दे सकना उनके लिए संभव नहीं होता। इसलिए सत्संग को यदाकदा प्राप्त होते रह सकने वाला अवसर ही माना जाएगा। ज्ञान लाभ का उद्देश्यपूर्ण करने वाला सर्वसुलभ स्वाध्याय ही है।

संसार के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व 'ज्ञान' को प्राप्त करके जीवन सफल बनाने—उसे श्रेष्ठ दिशा में विकसित करने के लिए स्वाध्याय ही प्रधान माध्यम है, इसलिए स्वाध्याय को एक आवश्यक धर्म कर्त्तव्य माना गया है। शास्त्र कहता है—**'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद न करो और **'अहरहस्वाध्यायमेध्येतव्यः'** अर्थात् दिन-रात स्वाध्याय में लगे रहो। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—**'भावन्तः वा इमां पृथिवी वितेन पूर्णाददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्त जयतिभूयां संवाक्षम्य एवम् विज्ञान अहरहस्वाध्यायामेधीते।'** अर्थात् जितना पुण्य धन-धान्य से पूर्ण इस समस्त पृथ्वी को दान देने से मिलता है, उसका तीन गुना पुण्य तथा उससे भी अधिक पुण्य स्वाध्याय करने वाले को प्राप्त होता है। इस कथन पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं हैं। भावनाओं को प्रेरणा देने का प्रमुख आधार स्वाध्याय ही वह तथ्य माना गया है, जिसमें प्रेरित होकर मनुष्य के विचार और कार्य सन्मार्ग की दिशा में विकसित होते हैं और यही विकास क्रम अनंतः अक्षय पुण्य फल प्राप्त होने का हेतु बनता है।

शरीर, वस्त्र, मकान आदि की सफाई नित्य करनी पड़ती है क्योंकि नित्य ही उन पर मैल जमता रहता है। इसी प्रकार मन पर भी संसार के बुरे वातावरण का मैल और कुप्रभाव निरंतर पड़ता रहता है। उसकी सफाई के लिए सत्संग और स्वाध्याय की बुहारी लगाने की नित्य ही आवश्यकता होती है। इसलिए शास्त्रकारों ने भोजन, स्नान, शयन आदि की भाँति ही स्वाध्याय को भी नित्य कर्म माना है। पानी को फैलाते ही वह तेजी से नीचे की ओर अपने आप बहने लगता है। उसी प्रकार मन का स्वभाव भी नीच कर्मों की ओर आकर्षित होता है। यदि उसे न रोका जाए तो वह पशु-प्रवृत्तियों की ओर ही बढ़ेगा। पानी को ऊपर ले जाना होता है तो रस्सी, बाल्टी, पंप आदि का प्रयोग करना पड़ता है, तब कहीं वह ऊपर को बढ़ाया जा सकता है। स्वाध्याय को वह व्यवधान कहा जा सकता है जो मन

रूपी पानी को कुमार्ग की ओर बहने से रोकता है। आत्म शोधन और आत्म निर्माण का सबसे प्रधान विधान 'स्वाध्याय' ही माना गया है। इसी से परमात्मा की प्राप्ति भी होती है। महर्षि व्यास का कथन है—**'स्वाध्याय योग सम्पया परमात्मा प्रकाशते'** अर्थात् स्वाध्याय युक्त साधना से ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

हमें अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के लिए स्वाध्याय को प्रमुख आधार मानना पड़ेगा और इसे जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में जन-जन को हृदयंगम कराना पड़ेगा। जो अनेकों दुष्प्रवृत्तियाँ हमारे वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में घर कर गई हैं। उनकी हानियों को भली प्रकार समझने एवं त्यागने के लिए प्रेरणा देने स्वाध्याय की शक्ति को प्रमुख उपाय मानना होगा। इसी प्रकार जो सद्भावनाएँ एवं सत्प्रवृत्तियाँ विकसित की जानी आवश्यक हैं, उनकी उपयोगिता समझने एवं ग्रहण करने के लिए उत्साह उत्पन्न करने का कार्य भी स्वाध्याय की आदत को अधिकाधिक प्रोत्साहन देने से ही संभव हो सकेगा।

हममें से प्रत्येक को स्वाध्याय के लिए नित्य कुछ समय नियमित रूप से निकालना चाहिए। जिस प्रकार स्नान के लिए एक समय नियत रहता है और रोज ही उस समय नहाया जाता है, उसी प्रकार नित्य स्वाध्याय के लिए भी एक समय नियत रहना चाहिए। यों पढ़ने को तो तरह-तरह की चीजें लोग पढ़ते हैं—पढ़ने का नाम स्वाध्याय नहीं है। स्वाध्याय वही कहा जाएगा जो हमारी जीवन समस्याओं पर आंतरिक उलझनों पर प्रकाश डालता है और मानवता को उज्ज्वल करने वाली सत्प्रवृत्तियों को अपनाने की प्रेरणा देता है। इसीलिए स्वाध्याय एवं सत्संग दोनों पर हमारे मनीषी आग्रहपूर्वक बल देते रहे हैं। उद्देश्य एक ही है, भीतर की सत्प्रवृत्तियों को सत्प्रेरणा मिले, शक्ति मिले, चिंतन-मनन की प्रक्रिया सही दिशा में आगे बढ़े और मनुष्य के भीतर छिपे देवत्व का अभिवर्धन हो तथा उसके चारों ओर स्वर्गीय वातावरण की सृष्टि संभव हो। स्वाध्याय, सत्संग एवं चिंतन-मनन की सार्थकता उसी श्रेष्ठता की उपलब्धि में है।

❒ ❒

मुद्रक : युग-निर्माण प्रेस, मथुरा (उ० प्र०)

स्वाध्याय और सत्संग

गायत्री का बाईसवाँ अक्षर 'चो' सत्संग और स्वाध्याय के लाभों को बतलाता है–

चोदयत्येव सत्संगो धियमस्य फलं महत् ।
स्वमतो सज्जै विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा ।।

अर्थात्–'सत्संग से बुद्धि का विकास होता है, इसलिये सदैव सत्पुरुषों का संग करे । सत्संग का फल महान् है ।'

मनुष्य के मस्तिष्क पर वातावरण, स्थान, परिस्थिति और व्यक्तियों का निश्चित रुप से भारी प्रभाव पड़ता है । जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनावें, उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार और सम्बन्ध रखें । जहाँ तक सम्भव हो परामर्श, उपदेश और मार्ग–प्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें ।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त, अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी ऐसा ही उपयोगी है । जिन जीवित या स्वर्गीय महापुरुषों से प्रत्यक्ष सत्संग सम्भव नहीं, उनकी पुस्तकें पढ़कर सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है । एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करके तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म–सत्संग होता है । ये सभी प्रकार के सत्संग आत्मोन्नति के लिये आवश्यक हैं ।

शरीर, वस्त्र, मकान वर्तन आदि की सफाई नित्य करनी पड़ती है, क्योंकि नित्य ही उन पर मैल जमता रहता है । इसी प्रकार मन पर भी संसार के बुरे वातावरण का मैल और कुप्रभाव निरंतर पड़ता रहता है, उसकी सफाई के लिये सत्संग और स्वाध्याय की बुहारी लगाने को शास्त्रों में नित्यकर्म बताया गया है । 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है कि जिस दिन भी स्वाध्याय न किया जाया उसी दिन मनुष्य की स्थिति शूद्र जैसी हो जाती है । इस नित्य–कर्म में मनुष्य को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

अच्छे विचारों के धारण करने से ही कुविचार दूर होते हैं । कटोरे

में पानी भर देने से उसमें जो हवा पहले भरी हुई थी, वह निकल जाती है । इसी प्रकार कुविचारों से, सत्यानाशी शत्रुओं से पीछा छुड़ाना हो और परम कल्याणकारी सद्विचारों को अपनाना हो तो यह आवश्यक है कि स्वाध्याय और सत्संग के लिये सदैव प्रयत्न करके अवसर निकालते रहें ।

मनुष्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

सत्संग का अर्थ केवल साधु–महात्माओं के पास जाकर उनके उपदेश सुनने से नहीं है । वास्तविक बात तो यह है कि हम जन्म के कुछ समय बाद से ही जो कुछ सीखते हैं, जैसा स्वभाव ग्रहण करते हैं, वह सब संगति का ही परिणाम होता है । हम आरम्भ से जिस परिस्थिति में रहते हैं वह भी एक प्रकार की संगति है, क्योंकि वह किसी न किसी व्यक्ति द्वारा ही उत्पन्न की जाती है । इन्हीं सब प्रभावों से मिल कर मानव जीवन का निर्माण होता है ।

विद्वान बेकन का कथन है कि 'मनुष्य कोरे कागज के समान है । वह जिन परिस्थितियों में रहता है, जिन विचारों से प्रभावित होता है, उसी ढ़ाँचे में ढल जाता है ।' एक सच्चा जैनी अपने धार्मिक विश्वासों की प्रेरणा से जीव दया को अपना धर्म मानता है । किन्तु एक सच्चा मुसलमान, अपने मजहब में अत्यन्त निष्ठा रखता हुआ ईश्वर के नाम पर कई पशुओं की कुर्बानी करता है । यदि दोनों के अन्तःकरणों की परीक्षा की जाय तो दोनों ही समान रुप से अपने को धर्मारुढ़ अनुभव करते पाये जायेंगे । जैनी का दृढ़ विश्वास है कि जीव दया करके मैंने उचित कर्तव्य किया । इसी प्रकार मुसलमान का भी निश्चित मत है कि उसने पशु बध करके ईश्वरीय आज्ञा का पालन किया ।

जीव दया और पशु बध यह दोनों कार्य आपस में एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं फिर भी विचार भिन्नता के कारण सच्चे भाव से उन्हें अपनी अपनी दृष्टि से ठीक मानते हैं । योरोपियन लोग मलत्याग के उपरान्त कागज द्वारा पोंछ कर शुद्धि कर लेते हैं, उनकी इस प्रथा को हिन्दू लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं । एक योरोपियन महिला से इस विषय में हमारी एक बार बहुत बातचीत हुई । उन्होंने हिन्दुओं की एक लोटा

जल से मल शुद्धि करने को बहुत बुरा बताया । उनका कहना था इस प्रकार विष्ठा का कुछ भाग पानी में मिल कर गुदा स्थान के चार. और फैल जाता है और इससे अशुद्धि और भी बढ़ जाती है । यदि जल से शुद्धि करनी हो तो नल के नीचे झुक कर बहुत देर तक शुद्धि करनी चाहिये अन्यथा एक लोटे जल से की हुई शुद्धि तो अशुद्धि को और अधिक बढ़ा देने वाली है । उन महिला की दृष्टि से कागज की शुद्धि उचित थी और जल की शुद्धि घृणित । हिन्दु कागज की शुद्धि को घृणित मानते हैं और योरोपियन जल की शुद्धि को । हम लोग गोबर से घर लीप कर शुद्धि अनुभव करते हैं । किन्तु पाश्चात्य देशवासी मनुष्य की विष्ठा की भांति पशु की विष्ठा को भी गंदी मानते हैं और गोबर से लीपे हुए स्थान को गंदा एवं घृणित समझते हैं । एक कार्य को एक व्यक्ति उचित समझता है, दूसरा अनुचित ।

नंगे बदन रहना हमारे यहां त्याग का चिन्ह है किन्तु दूसरे देशवासीयों की दृष्टि में वह असभ्यता का चिन्ह है । हिन्दू की दृष्टि में वेद ईश्वरीय संदेश है किन्तु दूसरी जाति के लोग उन्हें एक भजन पूजा की बेढंगी किताब से अधिक कुछ नहीं मानते । विधवा का विवाह हमारे समाज में एक भयंकर बात है पर अन्य जातियों में वह एक बिलकुल साधारण और स्वाभाविक प्रथा है । एक दो नहीं असंख्यों उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि परस्पर विरोधी दो बातों को लोग अपने अपने दृष्टिकोण से बिलकुल सत्य समझते हैं और निष्कपट मन से अपने विश्वासों को ठीक अनुभव करते हैं ।

विचारणीय बात यह है कि परस्पर विरोधी दो बातों में से एक सत्य होनी चाहिये दूसरी असत्य । परन्तु फिर यह देखा जाता है कि वे दोनों ही बातें अपने अपने क्षेत्र में सत्य समझी जाती हैं । हमारे लिए वेद ईश्वरीय पुस्तक हैं, पर मुसलमान के लिए कुरान के अतिरिक्त अल्लाह का कलाम दूसरा नहीं है । वेद और कुरान में काफी भत भेद हैं, यदि दोनों ईश्वर के कलाम हैं तो परस्पर विरोधी बातें क्यों ? यदि इन में से एक ईश्वर की वाणी है तो दूसरे को असत्य मार्ग पर मानना पड़ेगा । इस गड़बड़ी का उचित समाधान कुछ नहीं । सत्य क्या है ? यह गुत्थी अभी तक उलझी हुई ही पड़ी है । मनुष्य जिन विचारों और कार्यों को सत्य

माने बैठा है उनमें कितना अंश सत्य का है कितना असत्य का, यह अभी निर्णय होना बाकी है । मानव बुद्धि धीरे धीरे आगे बढ़ती जा रही है, एक दिन वह तत्व को खोज ही निकालेगी, ऐसी आशा करनी चाहिए । परन्तु आज यह कहना कठिन है कि जिन बातों को लोग उचित सत्य धर्म माने बैठे हैं वह वास्तव में वैसी हैं या नहीं ।

इस गुत्थी की मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार जो विवेचना होती है उससे विद्वान वेकन के मत की पुष्टि होती है 'मनुष्य कोरे कागज के समान है । वह जिन परिस्थितियों के बीच रहता है, वैसा ही बन जाता है ।' एक ही माता पिता से उत्पन्न दो बालकों में से एक हिन्दू को पालन पोषण के लिए दिया जाय और दूसरा अंग्रेज को । तो वे बालक अपने अपने संरक्षकों की भाषा ही बोलेंगे, वैसे ही आचार-विचारों को अपनायेंगे । अफ्रीका के जंगल में एक भेड़िया मनुष्य के दो बालक पकड ले गया, कुछ ऐसा आश्चर्य हुआ कि उन बच्चों को उसने खाया नहीं वरन् पाल लिया । बड़े होने पर यह बच्चे भेड़ियों की तरह गुरति थे, चार पावों से चलते थे और शिकार मार कर कच्चा मांस खाते थे, इन बालकों को शिकारियों ने पकड़ कर मनोवैज्ञानिकों के सामने परीक्षार्थ पेश किया था । इन बातों से जाना जाता है कि मनुष्य सचमुच कोरा कागज है । जिन लोगों के बीच वह रहेगा, उसी प्रकार का स्वभाव ग्रहण करेगा और बहुत अंशो में वैसा ही बन जायेगा । उसके विचार और विश्वास भी उसी ढ़ाँचे में ढल जावेंगे ।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि 'संगति' के असर से मनुष्य की जीवन यात्रा आरंभ होती है और इसी के प्रभाव से उस में हेरफेर होता है । विचार बदलते हैं, विश्वास बदलते हैं, कार्य बदलते हैं, स्वभाव बदलते हैं । वायु के थपेडों में उड़ता हुआ सूखा पत्ता इधर-उधर उड़ता फिरता है । उसी प्रकार संगति और परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्रिया पद्धति बनती हैं और फिर उसी के प्रभाव से कुछ से कुछ बन जाते है । आचार्य फ्रायड का मत है कि 'मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जो प्रभाव के ढ़ाँचे में ढलता और ढाला जाता है । हम देखते हैं कि असंख्य प्रतिभाशाली, सुतीक्ष्ण, मनोभूमि वाले लोग अपनी शक्ति का उपयोग तुच्छ कार्यों में कर रहे हैं । यदि वे

शक्तियाँ किन्हीं महत्वपूर्ण कार्यों में लगतीं तो अपना और दूसरों का बहुत कुछ भला कर सकती थीं । प्रभाव और परिस्थितियों ने, संगति और शिक्षाने, उन्हें जिधर लगा दिया वे लग गईं, और लगी रहेंगी ! चाहे वह मार्ग उचित हो या अनुचित ।

भारतीय धर्माचार्यों ने मानव प्राणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी गंभीरता एवं तत्परता से किया था । वे इस सत्य को समझते थे कि मनुष्य सिद्धांत की दृष्टि से कुछ भी क्यों न हो परन्तु व्यवहारतः वह 'परिस्थितियों का गुलाम है ।' संगति के प्रभाव से वह कुछ बनता है और बन सकता है । इसलिये हर व्यक्ति को समय--समय पर ऐसी परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में आते रहना चाहिए जो ऊँचा उठाने वाली हों, उत्तम प्रभाव डालनेवाली हों । हिन्दू धर्म में तीर्थ यात्रा का महत्व इसी दृष्टि से स्थापित किया गया है । साधारण कामकाजी लोगों की योग्यता, विद्या, साधना, सच्चरित्रता और तपस्या ऊँचे दर्जे की नहीं होती । यह तो उन्हीं में पाई जाती है जो ब्राह्मण वृत्ति को अपनाकर लोक सेवा, ईश्वर आराधना, स्वाध्याय, और साधना में प्रवृत्त रहे हैं । जहाँ ऐसे ब्रह्मर्षि जल वायु की उत्तमता के कारण, एवं ऐतिहासिक महत्व के कारण, अधिक संख्या में रहते हैं, वह स्थान तीर्थ कहे जाते हैं । तीर्थयात्रा में वायु परिवर्तन होता है, ऐतिहासिक स्मृतियों का अनुभव होता है और उन ब्रह्मर्षियों से सत्संग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनमें दूसरों पर अच्छा असर डालने की योग्यता का बाहुल्य होता है । तीर्थ यात्रा में पुण्य फल प्राप्त होता है इसका तात्पर्य यही है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति का उत्तम प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण अपने अन्दर जो सद्‌गुण उत्पन्न होते हैं उनके फल स्वरुप सुख दायक आनन्दमयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं ।

आज तीर्थ स्थानों का वातावरण वैसा नहीं रहा है तो भी वह प्राचीन सिद्धान्त, आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है । स्थूल शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को, मनोभूमि को, स्वस्थ रखने के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है । स्मरण रखिये मनुष्य कोरे कागज के समान है, गीली मिट्टी के समान है, उस पर संगति का प्रभाव पड़ता है । इसलिए उन्नतिशील, आनन्दमय,

सतोगुणी प्रभाव अपने ऊपर ग्रहण करने के लिए, सत्संग का अवसर तलाश करते रहना चाहिए और जब भी मौका प्राप्त हो उससे लाभ उठाना चाहिए ।

कथा प्रसिद्ध है कि एक बार विश्वामित्र ने वशिष्ठ को अपनी हजार वर्षों की तपस्या दान कर दी, बदले में वशिष्ठ ने एक क्षण के सत्संग का फल विश्वामित्र को दिया । विश्वामित्र ने अपना अपमान समझा । उन्होंने पूछा कि मेरे इतने बड़े दान का बदला आपने इतना कम क्यों दिया ? वशिष्ठ जी विश्वामित्र को शेषजी के पास फैसला कराने ले गये । शेषजी ने कहा मैं पृथ्वी का बोझ धारण किये हूँ । तुम दोनों अपनी वस्तु के बल से मेरे इस बोझ को अपने ऊपर ले लो । हजार वर्ष के तपोबल की शक्ति से वशिष्ठ पृथ्वी का बोझ न उठा सके, किन्तु क्षण भर के सत्संग के बल से विश्वामित्र ने पृथ्वी को उठा लिया । तब शेषजी ने फैसला किया कि हजार वर्ष की तपस्या से क्षण भर के सत्संग का फल अधिक है ।

अच्छे व्यक्तियों की संगति के लिए कुछ अन्य कार्य हर्ज करने पड़ें, पैसा खर्च करना पड़े तो करना चाहिए, क्योंकि यह हानि बीज रूप है, जो अन्त में हजार गुनी होकर लौटती है । जो अपने जीवन को उच्च बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि स्वाध्याय के लिए कुछ समय नित्य निकालें, श्रेष्ठ पुरुषों की उत्तम रचनायें जो ऊँचा उठाने वाली हों, नित्य पढ़ें । स्वाध्याय करना घर बैठे सत्संग करना है । इसके अतिरिक्त उत्तम विचारवान श्रेष्ठ पुरुषों के पास बैठने, उनसे प्रश्न पुछने, उनके आदर्शों और स्वभावों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । लोहे को सोना बना देने की शक्ति पारस पत्थर में होती है, और पशु को मनुष्य बना देने की क्षमता सत्संग में पाई जाती है । पारस पत्थर अप्राप्य है पर सत्संग की इच्छा करें तो उसे अपने समीप ही प्राप्त कर सकते हैं ।

ध्यान रखना चाहिए कि हमारे आस पास बुरा प्रभाव डालनेवाला वातावरण तो नहीं है, यदि हो तो उससे सावधान रहने और बचते रहना चाहिए । स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को ऊँचा उठाने की शक्ति सत्संग में हैं अतएव इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए । विद्वान बेकन का कथन है कि मनुष्य कोरे कागज के समान है । पतन और

उन्नति बहुत कर निकटस्थ प्रभाव के ऊपर निर्भर हैं इसलिए अपने को बुरे भावों से बचाने और अच्छे प्रभावों की छाया में लाने का प्रयत्न करते रहिये ।

भौतिक जगत में हम देखते हैं कि जब एक वस्तु दूसरे के साथ रहती है तब उन बस्तुओं में उनके गुणों का परस्पर आदान प्रदान होता है । अग्नि जल को गर्म करती और जल अग्नि को ठंडा करता है । उसी प्रकार सत्संग द्वारा भी परस्पर गुणों का आदान प्रदान होता है ।

एक साधारण पुरुष जब महात्माओं के बीच में पहुँच जाता है तब वह क्रमशः शुद्ध होने लगता है । उसका वातावरण बदल जाता है । मनुष्य अपनी परिस्थितियों से प्रभावित रहता है । यदि वह छली, कपटी और धूर्त लोगों के बीच में पड़ गया है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह भरी दृष्टि से देखने वाला बन जायेगा । उसे सब लोग कपटी और स्वार्थी प्रतीत होंगे और वह किसी के साथ स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार न कर सकेगा । किंतु यदि वही व्यक्ति महात्मा पुरुषों के बीच में रहने लगे तो उनके त्याग-पूर्ण व्यवहारों से उसे यह अनुभव होगा कि मनुष्य का स्वभाव दिव्य है । उसे उनके साथ किसी तरह का संदेह न होगा एवं वह सबके साथ खुलकर व्यवहार करेगा । इस तरह का वातावरण जीवन के लिए एक विडम्बना है और हम देखते हैं कि मनुष्य जिस तरह के लोगों के बीच में रहता है उसकी धारणाऐं तद्नुकूल हो जाती हैं और उसके व्यवहार से हम पता लगा सकते हैं कि वह किस प्रकार के वातावरण में पला है ।

यदि कोई व्यक्ति ऐसे वातावरण में पहुँच जावे जहाँ लोग उसे मूर्ख, अस्पृश्य और घृणास्पद समझने लगें तो उसके चित्त में आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण होने लगेगा और उसकी शक्तियाँ कुंठित होने लगेंगी । वह अपना आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव और निर्भीकता खो बैठेगा और दुखी बन जावेगा, भारतवर्ष के अछूतों का यही हाल हुआ है । उन्हें जन्म जन्मांतर से बुरे संकेत दिए गए हैं, जिन्हें हम पुनर्जन्म के सिद्धांत की आड़ में उचित और पाप-परिक्षालक कहते रहे हैं । इन संकेतों ने ही उन्हें दास स्वभाव वाला बनाया है । ऐसा वातावरण सचमुच जीवन के लिए एक अभिशाप है ।

जिन्हें अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होता है उनके बीच में रहना मानों अपने जीवन को दुखी बना लेना है । किंतु यदि हम महात्माओं के बीच में रहें तो निश्चय ही हमारे अन्तराल में उनके सद्व्यवहारों के कारण आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण नहीं हो सकता । इनके साथ रहने से तो उल्टे ही ये ग्रन्थियाँ मिट जाती हैं । जिस तरह कोई मनःशास्त्र विशेषज्ञ अपनी सहानुभूति के द्वारा चिकित्सा करते समय रोगी के गुप्त मनोभावों और रहस्यों को उससे कहलवा लेता है और ग्रन्थि पड़ने के कारण को जानकर उसका निराकरण कर देता है उसी तरह सन्त-समाज में हमारे हृदय की गुत्थियाँ उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण खुल पड़ती हैं और हम अनुभव करते हैं कि हमारा हृदय हल्का हो गया और हमारे दीर्घ रोग की चिकित्सा हो गई ।

संतों के समागम में रहकर हमें जीवन के प्रति स्वास्थ्यप्रद दृष्टिकोण प्राप्त होता है । उद्देश्य हीन जीवन के स्थान में हमारा जीवन उद्देश्य युक्त हो जाता है और हम दूसरों का अन्धानुकरण नहीं करते ।

मनुष्य के आचार विचार के लिए उसका वातावरण बहुत अंशों में उत्तरदायी है । अतएव यदि मनुष्य अपने वातावरण को बदल डाले तो उसके आचार विचार और स्वभाव में परिवर्तन सहज ही हो जायेगा । किन्तु वातावरण को बदलना, कहने में जितना सरल है, वास्तव में वह उतना सरल नहीं । सच तो यह है कि वातावरण को बदलना ही परोक्ष रुप से अपने आचार-विचार को बदलना है, अतएव उसका बदलना उतना ही कठिन है जितना कि आचार विचारों का । उदार हृदय सहृदय व्यक्तियों का संग सबके लिए सुलभ है । गीता आदि धर्म पुस्तकों का संग सबको सुलभ है । प्रत्येक व्यक्ति बे रोकटोक उनका सत्संग कर सकता है किन्तु फिर भी उनके सत्संग से अनेकों प्राणी वंचित रहते हैं । उनका चित्त ही उन्हें उस सत्संग से वंचित रखता है । उनके हृदय में जो पूर्व संस्कार हैं वे ही बाधा डालते हैं और उन्हें सत्संग रुचता नहीं । बिना आचार-विचार बदले न तो हम सत्संग के योग्य बनते हैं और न बिना संगी साथियों को बदले हमारे आचार-विचार ही बदल सकते हैं । हमारे आचार-विचार और परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे के परिणाम अथवा प्रतिबिम्ब हैं । अतएव अच्छे आचार-विचार वाला व्यक्ति ही

सत्संग कर सकता है और हम कह सकते हैं कि जो महात्माओं का संग करता है उसका मानसिक धरातल निश्चय ही उच्च होना चाहिए ।

सत्संग द्वारा आचार-विचार बदलने से मनुष्य के जीवन का दृष्टिकोण भी बदलना अनिवार्य है । जो व्यक्ति आज प्रत्येक कार्य करते समय व्यक्तिगत लाभ का लेखा-जोखा करता है वहीं व्यक्ति सत्संग के प्रभाव से उन्हीं कार्यों को सामाजिक लाभ अथवा लोक-संग्रह की दृष्टि से करने लगे, यह भी सम्भव है । गाँधी जी के प्रभाव में आकर अनेकों धनिकों ने अपने दृष्टिकोण को बदला, यह तो सभी जानते हैं ।

सत्संग से हमें अपने ध्येय की ओर तीव्रगति से बढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है । अपने आध्यात्मिक विकास के लिए साधन करना जिनका सहज स्वभाव हो गया है, उनके लिए सत्संग की आवश्यकता भले न हो किंतु इतर जनों के लिए यह उत्साह वर्द्धक है । जिस विद्यार्थी ने व्यायाम करना अभी-अभी शुरु किया है वह घर पर नित्य नियमित रुप से अकेले ही कितने दिनों तक व्यायाम करेगा । किंतु यदि वही विद्यार्थी, अन्य व्यायाम प्रिय विद्यार्थीयों का संग पा जावे, तो उसके उत्साह में शिथिलता न आने पायेगी और धीरे धीरे व्यायाम करना उसका सहज स्वभाव हो जावेगा और फिर वह अकेले रहने पर भी उसी उत्साह से व्यायाम करता जावेगा । अतएव यदि आरम्भिक अभ्यासी को तीव्रगति से उन्नति करना है तो उसके लिये सत्संग अनिवार्य है ।

जिस तरह कीड़े पर भृंगी का प्रभाव पड़ता है उसी तरह सत्संग के द्वारा भी साधकों पर श्रेष्ठजनों का प्रभाव पड़ता है । यदि आप एक साधारण लौकिक प्राणी हैं और आपको किसी महात्मा-पुरुष की कृपा प्राप्त है तो उससे पत्र-व्यवहार करने में और उसके दर्शन करने में आपको जो समय बिताना पड़ेगा उसके कारण आपके विचार बहुत कुछ उसकी ओर खिंचे रहेंगे और आपके जीवन का एक पर्याप्त हिस्सा उनके सत्संग सम्बन्धी विषयों के विचार में ही व्यतीत होगा और आप भृंगी कीट-न्याय की नाईं धीरे धीरे उनके ढांचे में ही ढलते चले जावेंगे । इसलिए कहा है-**'महत्संगो दुर्लभश्चामोघश्च'**

सत्संग की महिमा अपार है

सभी देशों और कालों के महापुरुषों ने आत्म-कल्याण के लिये सत्संग को सर्वोत्तम साधन बतलाया है । वैसे तो प्रत्येक सज्जन की संगति लाभदायक होती है, पर जिन सत्पुरुषों ने अपने जीवन को परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में ही लगा रखा है और सांसारिक प्रपन्चों को त्याग दिया है, उनके उपदेश सुनने तथा उनके समीप बैठने से मनुष्य के विचारों और आचार में निर्मलता की वृद्धि विशेष रुप से हो सकती है । सत्संग के प्रभाव से ही मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होकर कल्याण मार्ग का दर्शन हो सकता है ।

आज का सामाजिक जीवन इतना विषम बन गया है जिसमें दरिद्रता, अभाव, उत्पीड़न और करुणा का तांडव नर्तन हो रहा है । मनुष्य की अवांछनीय असीमित इच्छाएँ तदनुकूल समस्याएँ वटवृक्ष की सुगुम्फित जटाओं की भाँति इतनी जटिल हो गई हैं जिनका निराकरण मानव शक्ति से परे है । आज के सामाजिक कल्याणकारी कहलाने वाले मनुष्य कुसंगति में पड़कर कर्तव्य पथ से भ्रष्ट हो रहे हैं । सत्पुरुषों का साथ उन्हें भाता नहीं, साधु संतो के प्रवचन उन्हें कड़वी औषधि की भाँति लगते हैं फलस्वरुप चारों ओर संतों का साथ तो 'सर्वभूत हिते रतः' वाली भावना उत्पन्न कराता है तथा दूसरों के कष्टों के निवारणार्थ आत्मबल प्रदान करता है । जैसा कि कबीरदास जी ने भी कहा है ।

कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि ।
ओछी संगति क्रुर की आठों पहर उपाधि ।।

आत्म सुख और परम शान्ति के लिये साधु महात्माओं संतों का सत्संग परमावश्यक है । इसके बिना जीवन का कोई आस्वादन नहीं । इस सत्संग के पुण्य लाभ के निमित्त ही नर देह धारण करने के लिये देवगण भी लालायित रहते हैं ।

वेदशास्त्रों में ईश्वरीय साक्षात्कार के निमित्त तीन प्रकार के मार्ग बतलाए गऐ हैं । ज्ञान, कर्म और भक्ति । इनमें ज्ञान का पथ तलवार की धार की भाँति प्रखर और सर्व साधारण की बुद्धि से परे की बात है । कर्म करने वाला पुरुष जब पाप, पुण्य, उचित अनुचित के संगम पर पहुँचता है तो कदाचित किंकर्तव्य विमूढ़ सा हो हो जाता है । अतएव स्वभक्ति ही एक मात्र साधारणजनों का अटूट सहारा रह जाता है, परन्तु इस

आनन्द और सुख के उपभोग के लिये प्रथम सत्संगति आवश्यक है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति सरोवर में स्नान करने के इच्छुक जनों से स्पष्ट शब्दों में कहा–

जो नहाइ चह यह सर भाई । तौ सत्संग करै मन लाई ।।

वस्तुतः ज्ञान और कर्म, सर्व प्रथम सत्संग से ही अनुप्रेरित होते हैं जिसके लिए प्रभु की अनुकम्पा अपेक्षित है, जैसा कहा गया है कि–

बिनु सत्संग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ।।

सत्पुरुषों के साहचर्य से केवल भगवत् भक्ति ही प्राप्त नहीं होती, अपितु पुरुष की अमानुषिक प्रवृत्तियों का भी इससे परिष्कार होता है । सत्संगति तो पारस मणि के तुल्य है । इसके बिना भगवद् भजन, संकीर्तन, यजन, ध्यान, पूजन, अर्चन, वन्दन असंभव नहीं तो दुस्तर अवश्य है । गुसाईं जी के शब्दों में–

बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ।।

प्रभु के चरणाम्बुजों में प्रेम की दृढ़ता के लिए सत्संग अपेक्षित है । विद्वानों ने संत समागम के क्षणमात्र से ही अनेक पापों को मिटाना बतलाया है । केवल एक घड़ी में ही–

एक घड़ी आधी घड़ी और आध कौ आध ।
तुलसी संगति साधु की कोटिन हरैं व्याधि ।।

सत्संग की महिमा का उल्लेख करते हुए श्री भतृहरि जीने अपने 'नीतिशतक' में लिखा है ।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नति दिशति पाप मया करोति
चेता प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति
सत्संगति कथम किम न करोति पुंसाम ।

अर्थात बुद्धि से मूर्खता को हरती, वचनों से सत्यता को सींचती, प्रतिष्ठा को बढ़ाती, और दशों दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है । बताओ तो भला यह सतसंगति मनुष्य को क्या क्या उपलब्ध नहीं करा देती ?

तुलसीदास जी ने सत्संगति को सब मंगलों का मूल कहा है ।

सत्संगति मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।।

यज्ञ, तप, दान जप और पंचाग्नि तपस्या से जो भक्ति कठिनाई से प्राप्त होती है, वह साधुजनों के सत्संग से सरलता पूर्वक और थोड़े समय में ही प्राप्त की जा सकती है । जिस प्रकार गूँगे को मधुर फल का रसास्वादन अन्दर ही अन्दर मिलता है, ठीक उसी प्रकार भक्तजनों को सत्संग से आनन्द प्राप्त होता है । वह आनन्दानुभूति वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती ।

महापुरुषों का चरित्र-चिन्तन भी कल्याणकारी होता है

इस संसार में उन्नति करने-उत्थान के जितने भी साधन हैं 'सत्संग' उन सब में अधिक फलदायक और सुविधाजनक है । सत्संग का जितना गुणगान किया जाय थोड़ा है । पारस लोहे को सोना बना देता है । रामचन्द्रजी के सत्संग से रीछ बानर भी पवित्र हो गये थे । कृष्णजी के संग रहने से गाँव के गँवार समझे जाने वाले गोप गोपियाँ भक्त शिरोमणि बन गये ।

सत्संग मनुष्यों का हो सकता है और पुस्तकों का भी । श्रेष्ठ मनुष्यों के साथ उठना, बातचीत करना आदि और उत्तम पुस्तकों का अध्ययन सत्संग कहलाता है । मनुष्यों के सत्संग से जो लाभ होता है, वह पुस्तकों के सत्संग से भी सम्भव है । अन्तर इतना है कि संतजनों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है ।

आत्म संस्कार के लिए सत्संग से सरल और श्रेष्ठ साधन दूसरा नहीं । बड़े-बड़े दुष्ट, बड़े-बड़े पापी, घोर दुराचारी, सज्जन और सच्चरित्र व्यक्ति के सम्पर्क में आकर सुधरे बिना नहीं रह सकते । सत्संग अपना ऐसा जादू डालता है कि मनुष्य की आत्मा अपने आप शुद्ध होने लगती है । महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आकर न जाने कितनों का उद्धार हो गया था, कैसे-कैसे विलासी और फैशन-परस्त सच्चे जनसेवक और परोपकारी बन गये थे । पुस्तकों का सत्संग भी आत्म-संस्कार के लिए अच्छा साधन है । इस उद्देश्य के लिए महापुरुषों के जीवन चरित्र विशेष लाभप्रद होते हैं । उनके स्वाध्याय से मनुष्य सत्कार्यों में प्रवृत्त होता है और जघन्य कार्यों से मुहँ मोड़ता है । गोस्वामी जी की रामायण में राम

का आदर्श जीवन पढ़ कर न जाने कितनों ने कुमार्ग से अपना पैर हटा लिया । महाराणा प्रताप और महाराज शिवाजी की जीवनियों ने लाखों व्यक्तियों को देश सेवा का पाठ पढ़ाया है ।

सत्संग मनुष्य के चरित्र निर्माण में बड़ा सहायक होता है । हम प्रायः देखते हैं कि जिनके घरों के बच्चे छोटे दर्जे के नौकरों–चाकरों या अशिक्षित पड़ोसियों के संसर्ग में रहते हैं वे भी असभ्य और अशिष्ट बन जाते हैं । उनमें तरह–तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें से कितनों ही का तो समस्त जीवन बिगड़ जाता है । इसके विपरीत जो लोग अपने बच्चों की भली प्रकार देख–रेख रखते हैं, उनको भले आदमियों के पास उठने बैठने देते हैं, स्वयं भी भद्रोचित ढ़ंग से बातचीत करते हैं, उनके बच्चे सभ्य, सुशील होते हैं, और उनकी बातचीत से सुनने वाले को प्रसन्नता होती है । इसलिये सत्संग की आवश्यकता बड़ी आयु में ही नहीं है, वरन् आरम्भ से ही है । हमको इस विषय में सचेत रहना चाहिए और खराब व्यक्तियों का संग कभी नहीं करना चाहिए ।

स्वाध्याय भी सत्संग का ही एक रूप है

जीवन में सुख प्राप्त के लिए सत्संग का बड़ा महत्व है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहना चाहता है । जीवन यात्रा के लिए वह कुछ साथी चुन लेता है जिनके साथ रहकर अपने दिन काटता है । अगर उसने गलती से बुरे साथी चुन लिये तो उसका जीवन दुःखी हो जायेगा । यदि भाग्यवश श्रेष्ठ संगी मिल गये तो उसका जीवन सरस और सुखी हो जायेगा । उनसे उसे सदा सहायता मिलेगी और वे उसे सदा हितकारी सम्मति देंगे ।

स्वाध्याय और सत्संग में बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है । एक दृष्टि से देखा जाय तो स्वाध्याय सत्संग का ही एक रूप है । सत्संग में हम एक उपदेश को किसी सन्त पुरूष के मुख से सुनते हैं और स्वाध्याय में उसी उपदेश को पुस्तक के द्वारा प्राप्त करते हैं । यह सत्य है कि अनेक उच्च कोटि के सन्तों के व्यक्तित्व का प्रभाव चमत्कारी होता है और उनके पास बैठने से जो असर पड़ता है वह पुस्तक के द्वारा नहीं पड़ सकता । पर साथ ही सह भी सत्य है कि सच्चे साधु पुरूषों की संगति सहज में प्राप्त

नहीं हो सकती और यदि प्राप्त भी हो जाय तो हम जब चाहें तब उनके पास नहीं पहुँच सकते । पुस्तकों में यह विशेषता है कि हमको जिस समय सुविधा या आकांक्षा हो उसी समय उनसे उपदेश ग्रहण किया जा सकता है, और एक बार में वह हृदय में न बैठे तो बार-बार उसको दुहरा कर मनन करके लाभ उठाया जा सकता है ।

जितने सन्त तथा महापुरुष हुए हैं उन्होंने स्वाध्याय की महिमा का गान किया है । हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि 'स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।'

स्वाध्याय के अर्थ के सम्बन्ध में लोगों में अनेक मत भेद हैं । कुछ लोग पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं, कुछ खास प्रकार की पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं । कुछ का कहना है कि आत्म निरीक्षण करते हुए अपनी डायरी भरने का नाम स्वाध्याय है । वेद के अध्ययन का नाम भी कुछ लोगों ने स्वाध्याय रख छोड़ा है । लेकिन इतने अर्थों का विवाद उस समय अपने आप ही समाप्त हो जाता है जब मनुष्य के ज्ञान में उसका लक्ष्य समा जाता है ।

स्वाध्याय का विश्लेषण करनेवालों ने इनके दो प्रकार से समास किये हैं-

स्वस्यात्मनो ऽध्ययनम्-अपना, अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण । **स्वयमध्यनम्**- अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन ।

दोनों प्रकार के विश्लेषणों में स्व का ही महत्व है । इसीलिए शास्त्रकारों का कथन है कि-

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव ।।

प्रति घड़ी प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वयं के चरित्र का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उसका चरित्र पशुओं जैसा है अथवा सत्पुरुष जैसा । आत्म निरीक्षण की इस प्रणाली का नाम ही स्वाध्याय है । जितने महापुरुष हुए हैं वे सब इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे । उन्होंने स्वाध्याय के इस मार्ग में कहीं भी अपने अन्दर कमी नहीं आने दी बल्कि समस्त कमियों को निकालने और पूर्णमानव बनने के उद्देश्य से इस मार्ग को ग्रहण किया ।

'शतपथ' ब्राह्मण में लिखा है कि पानी बहता है क्योंकि बहना ही उसका धर्म है । सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र चलते हैं क्योंकि गति करना, चलना यह उनका स्वभाव है । यदि ये अपने स्वभाव को छोड़ दें, गति हीन हो जावें तो सृष्टि का काम ही रूक जावे । ऐसे ही ब्राह्मण का स्वाभाविक काम स्वाध्याय है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है–

तद्हरब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायंनाधयत्ते ।

वेद शास्त्रों में श्रम का सबसे बड़ा महत्व है । हर एक को कुछ न कुछ श्रम नित्य प्रति करना ही चाहिए । श्रम इसी त्रिलोकी में होता है । भू, भुवः और स्वर्ग लोक ही श्रम का क्षेत्र है । इस श्रम के क्षेत्र में स्वाध्याय ही सबसे बड़ा श्रम है । योग भाष्यकार व्यास का कहना है कि–

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनत् ।
स्वाध्याय योगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते ।१।२८

अर्थात् स्वाध्याय द्वारा परमात्मा से योग करना सीखा जाता है और समस्वरूप योग से स्वाध्याय किया जाता है योग पूर्वक स्वाध्याय से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है । अपने आपको जानने के लिये स्वाध्याय से बढ़ कर अन्य कोई उपाय नहीं है । यहाँ तक कि इससे बढ़ कर कोई पुण्य भी नहीं है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि :–

भावन्तंह वा इमां पृथिवी वित्तेन पूर्णा ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं वाक्षय्य य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते ।

जितना पुण्य धन धान्य से पूर्ण इस समस्त पृथ्वी को दान देने से मिलता है उसका तीन गुना पुण्य तथा उससे भी अधिक पुण्य स्वाध्याय करनेवाले को प्राप्त होता है ।

मानव जीवन का धर्म ही एक मात्र आश्रय है इस धर्म के यज्ञ अध्ययन एवं दान ये ही तीन आधार हैं ।

त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानामिति ।
छान्दो० २।३२।१

अपने स्वत्व को छोड़ना दान कहलाता है और अपना कर्त्तव्य करना यज्ञ । लेकिन स्वत्व छोड़ने तथा कर्त्तव्य करने का ज्ञान देने वाला तथा उसकी तैयारी करा कर उस पथ पर अग्रसर कराने वाला स्वाध्याय या अध्ययन है ।

किन्हीं किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि स्वाध्याय तो तप है । तप के द्वारा शक्ति का संचय होता है शक्ति के संचय से मनुष्य शक्तिवान बनता है । चमत्कार को नमस्कार करने वाले बहुत हैं, जिसके पास शक्ति नहीं है उसे कोई भी नहीं पूछता । इसलिये जो तपस्वी हैं उनसे सभी भयभीत रहते हैं और उनके भय से समाज अपने अपने कर्त्तव्य का सांगोपांग पालन करता रहता है ।

तप का प्रधान अंग है एकाग्रता । निरन्तर, उत्कण्ठा पूर्वक एकाग्रता के साथ निश्चित समय पर जिस कार्य को किया जाता है उसमें अवश्य सफलता मिलती है । उत्कण्ठा से प्रेरणा मिलती है, और मन के विश्वास में दृढ़ता आती है । बिना दृढ़ता के दुनिया का कोई कार्य कभी भी सफल नहीं हुआ है । अनेकों में दृढ़ता की व्यक्ति की एकाग्रता के लिए अपेक्षा रहती है और जब नियमितता आ जाती है तो ये सब मिल कर तप का रूप धारण कर लेती है । यह तप आत्मा पर पड़े हुए मल को दूर करेगा और उसे चमका देगा ।

तप का एक मात्र कार्य आत्मा पर पड़े हुए मल को—या आवरण को दूर करने मात्र का ही है । व्यास ने स्वाध्याय को परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला इसीलिए बतलाया है क्योंकि जो आवरण के अन्धकार में चला गया है उसे प्रकट करने के लिए अन्धकार को दूर करने की आवश्यकता है ।

जीवन का उद्देश्य कुछ भी हो, उस उद्देश्य तक जाने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता होती है । स्वाध्याय जीवन के उद्देश्य तक पहुँचने की खामियों को भी दूर कर सकता है । जो स्वाध्याय नहीं करते, वे खामियों को दूर नहीं कर सकते इसलिए चाहे ब्राह्मण हो—चाहे शूद्र प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य से गिर सकता है ।

स्वाध्याय को श्रम की सीमा कहा गया है । श्रम में ही पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग तक के समस्त कर्म प्रतिष्ठित हैं । बिना

स्वाध्याय के सांगोपांग रूप से कर्म नहीं हो सकते और सांगोपांग कर्म हुए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती । इसलिए सम्पूर्ण सिद्धियों का एक मात्र मूलमंत्र है स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण ।

आत्म निरीक्षण में अपनी शक्ति का निरीक्षण और अपने कर्म का निरीक्षण किया जाता है । शक्ति के अनुसार कर्म करने में ही सफलता मिलती है । कौन सी शक्ति किस कर्म की सफलता में सहायक हो सकती है । यह ज्ञान हुए बिना भी सफलता नहीं मिलती । ज्ञान का साधन भी स्वाध्याय ही है । इसी कारण जो ज्ञान और प्रमाद से विस्मृत हो गया हो तब उसको प्राप्त करने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता है । अप्रमत्त हो कर जिस कार्य को किया जाता है, सम्पूर्ण शक्ति जिस कार्य में लगी रहती है, उसकी सिद्धि में किंचित भी सन्देह नहीं करना चाहिए, इसीलिए एहिलौकिक और पारलौकिक दोनों स्थानों की सिद्धि के लिए, आत्म कल्याण के लिए निरंतर स्वाध्याय की आवश्यकता है । निरन्तर स्वाध्याय न करने से मन तथा बुद्धि में एवं प्राणों में जड़ता स्थान बना लेती है, मनुष्य प्रमादी हो जाता है । प्रभाद मानव का सबसे बड़ा शत्रु है यह उसे बीच में ही रोक लेता है । सिद्धि तक पहुँचने ही नहीं देता । इसलिए आर्य ऋषियों ने कहा है–

स्वाध्यायान्माप्रमदः–स्वाध्याय में प्रमाद न करो और अहरहः स्वाध्यामध्येतव्यः–रात दिन स्वाध्याय में लगे रहो ।

वास्तविक शिक्षा स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त होती है

संसार में शिक्षा ही एक ऐसी शक्ति मानी गई है, जिसकी सहायता से मनुष्य पशु जैसी अवस्था से निकल कर विवेकशील प्राणी बन सकता है । यही कारण है कि वर्तमान समय में सार्वजनिक शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है और सर्वत्र स्कूलों और कालेजों की संख्या तेजी से बढ़ती जाती है । शिक्षा से मनुष्य का मानसिक संस्कार हो जाता है और उसकी बुद्धि चमक उठती है, पर यह तभी संभव है जब हम वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करें, दो चार वर्ष या अधिक समय तक किसी स्कूल में थोड़ी बहुत पुस्तकें पढ़ लेना और एक दो परीक्षाऐं पास

कर लेना वास्तविक शिक्षा नहीं है, स्कूल में तो पढ़ने लिखने की विधि सिखला दी जाती है और अभ्यास करा दिया जाता है । इसके बाद जब हम स्वयं उस शिक्षा की सहायता से उत्तमोत्तम और उपयोगी ग्रंथो का मनन पूर्वक स्वाध्याय करते हैं तब वास्तविक ज्ञान हमारे अन्तर में प्रविष्ट हो जाता है और हम उसका उपयोग करके अथवा उस पर आचरण करके स्वयं लाभ उठाते हैं और समाज की भी भलाई कर सकने में समर्थ होते हैं ।

स्वाध्याय का अर्थ है आत्म–शिक्षण, जिसमें हम चिन्तन, मनन और अध्ययन का भी समावेश पाते हैं । स्वयं जब हम परिश्रम के द्वारा किसी वस्तु विशेष का समाधान करते हुए उत्तरोत्तर उन्नतोन्मुख होकर किसी नवीन वस्तु की खोज के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तब उसको हम स्वाध्याय द्वारा उपार्जित वस्तु कहते हैं । नवीनता का समारम्भ किसी स्वाध्यायी व्यक्ति द्वारा हुआ और उसकी अविरल तारतम्यता उन्हीं के द्वारा चल रही है । उत्तरोत्तर नवीनता का आविष्कार होने का अर्थ है उन्नति के सोपान पर आरोहण । स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तव में ज्ञान होता है । जो ज्ञान हम बलपूर्वक किसी दूसरे से प्राप्त करते हैं वह टिकाऊ कदापि नहीं होता । वह पिंजरा बद्ध कीर की नाई समय पड़ने पर हमारे मस्तिष्क से फुद्दका मार कर उड़ जाता है और पुनः आने का नाम नहीं लेता । संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उनके जीवन में केवल यही विशेषता रही है कि वे अपने जीवन भर स्वाध्यायी रहे हैं । जैसे जैसे उनमें स्वाध्याय की मात्रा बढ़ती गई है तैसे–तैसे वे संसार में चमकते तथा सफल होते गये हैं ।

शिक्षा की पूर्णता स्वाध्याय द्वारा होती है । जिस शिक्षा पद्धति में जितनी ही अधिक ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को बढ़ाने की क्षमता है वह उतनी ही सफल कही जाती है–कारण यदि उसके द्वारा हमारी उन शक्तियों का प्रस्फुरण होता है तो स्वाध्याय के द्वारा उन्हीं का तदनुरूप विकास और परिवर्तन भी होता है । यदि उसके द्वारा हमें किसी शब्द का प्रारम्भिक परिचय मिलता है तो स्वाध्याय द्वारा हम उस शब्द विशेष के अन्तराल तक पहुँचते हैं । दोनों में चोली दामन का साथ है । शिक्षा का अर्थ हमें यहाँ लिखने अथवा पढ़ने तक ही सीमित नहीं समझना

चाहिए । माँ यदि बालक को 'ताई' और 'अब्बा' कहना सिखाती है तो उसे भी हम उसकी प्रारम्भिक शिक्षा ही कहेंगे । एक व्यक्ति जो कि लिखना अथवा पढ़ना नहीं जानता वह भी स्वाध्यायी हो सकता है और स्वाध्याय के द्वारा पढ़ने अथवा लिखने की कला उसे स्वयं आ जाती है । तात्पर्य यह है कि आदर्श शिक्षा के द्वारा हम स्वाध्यायी हो सकते हैं । दोनों एक दूसरे के द्वारा साध्य हैं । अब यहाँ पर यह प्रश्न आप पूछ सकते हैं कि शिक्षितों की संख्या तो पर्याप्त है, तो क्या उतने ही स्वाध्यायी भी हैं ? इसका उत्तर यही होगा कि यदि उन शिक्षितों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं व्यवसायिक आदि शक्तियों का विकास एवं प्रस्फुरण प्राप्त शिक्षा द्वारा हो चुका है तो निसंदेह वे स्वाध्यायी होंगे । उपर्युक्त शक्तियों के विकास का आधारस्तम्भ शिक्षा विशेष की पद्धति में निहित रहता है । यदि हमारी शिक्षा पद्धति दूषित है तो स्वभावतः हमारी शक्तियों का ह्रास होगा । ऐसी बात नहीं कि कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त शक्तियों के बिना संसार में आया हो । सभी में इन शक्तियों का समावेश रहता है । संस्कार और शिक्षा विशेष के द्वारा वे घटती या बढ़ती हैं । जिस तरह से उगते हुए पौदे को बढ़ाने तथा विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में जल, रोशनी और हवा आदि न मिले तो वह तुरन्त ही पीला पड़ कर तथा मुरझा कर नष्ट हो जाता है, उसी भांति हमारी ईश्वर प्रदत्त इन शक्तियों का भी हाल है । यथेष्ट शिक्षा के अभाव में इनका विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है । उस समय हम कहते हैं कि अमुक लड़का अपने शुरू जीवन से ही भोंदा और मन्द बुद्धि का है । उसमें किसी भी तरह के काम को करने की क्षमता तनिक भी नहीं है । वहाँ प्रकृति का दोष नहीं–शिक्षा तथा संस्कार विशेष का दोष होता है । किसी वस्तु को देखने की शक्ति तो सभी को प्राप्त है किन्तु निरीक्षण की शक्ति उसी में रहती है जिसकी कि शक्ति शिक्षा और तदुपरांत स्वाध्याय द्वारा विकसित हो चुकी हो । पेड़ से गिरते हुए फलों और पत्तों को आदि काल से लोग देखते आ रहे हैं किन्तु सर आइजक न्यूटन ही एक ऐसा व्यक्ति था कि जिसने अपनी निरीक्षण शक्ति के द्वारा इस बात को सिद्ध कर दिखाया कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । अस्तु, लिखने–पढ़ने, चलने–फिरने, देखने–सुनने तथा स्थूल जगत् की व्यवहारिक बातों का

ज्ञान तो प्रायः अधिकांश शिक्षित संज्ञक लोगों में होता ही है किन्तु क्या वे पूर्ण शक्षित होते हैं ? स्वाध्याय हीन शिक्षा व्यर्थ और अनुपादेय होती है और स्वाध्यायशील न होता हुआ शिक्षित अशिक्षित ही है ।

शिक्षा तथा संस्कार के अतिरिक्त स्वाध्यायी व्यक्तियों में कतिपय अलौकिक गुण भी होते हैं उनके विचारों में दृढ़ता का होना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि स्वाध्याय की साधना करते हुए न मालुम कितनी जगहों से उन्हें विचलित होना पड़ता है । कभी कभी हानि भी उठानी पड़ती है तब कहीं जाकर उन्हें सफलता मिलती है ।। सच है सुकार्य सदा ही कष्ट साध्य है । एकलव्य जब गुरु द्रोणाचार्य जी के यहाँ शिक्षा के हेतु जाता है तो उसे गुरूजी महाराज किन शब्दों द्वारा दुत्कार देते हैं । यदि उसमें दृढ़ संकल्प न होता तो तत्काल ही निरुत्साहित होकर अपने घर लौट जाता । किन्तु नहीं, उसकी स्वाध्यायशीलता और भी अधिक जागृत हो उठती है । फलतः एक दिन वही एकलव्य अर्जुन से बढ़ कर धनुर्धर के रूपमें गुरूजी के सामने आता है । अब आप अनुमान लगा सकते हैं कि स्वाध्याय में इतनी शक्ति है कि बिना शिक्षक अथवा रास्ता दिखानेवाले के भी आगे सफलता पूर्वक बढ़ सकता है ।

स्वाध्यायी व्यक्तियों में एकाकीपन और लोककल्याण की भावना अधिक रहती है । यह बात स्वाभाविक ही है कि एकाकीपन में हम अपने मस्तिष्क का सन्तुलन अधिकाधिक कर पाते हैं । कवियों और कलाकारों के जीवन चरित्र को पढ़ते समय हम उनके आरम्भिक जीवन के पन्ने को जब पलटते हैं तो पता चलता है कि वे एकाकी अवस्था में रहकर घंटो पहले गुनगुनाया करते थे । हाँ, एकाकीपन और प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । एकाकीपन को पसन्द करनेवाला व्यक्ति प्रकृति प्रेमी होता है । प्रकृति का अध्ययन कितना मनोरंजक और ज्ञान वर्धक होता है । निरीक्षण शक्ति प्रधान वाला व्यक्ति सदा प्रकृति-प्रेमी ही रहा है । ज्ञान का अगाध समुद्र प्रकृति में वर्तमान है । स्वाध्यायी उसमें डुबकियाँ लगाते हैं और मोतियों की लड़ी निकालते चले जाते हैं- धतूरे में प्राण नाशक शक्ति वर्तमान है, पेड़ से गिर जाने पर पत्ते सीधे जमीन पर ही विश्राम लेते हैं, अवश्य पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । आदि आदि ।

सदाचार और स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सच्चरित्र व्यक्ति

ही स्वाध्यायी होता है । दुश्चरित्रों में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वे किसी वस्तु विशेष पर अधिक काल तक मनन और अध्ययन कर सकें । उनकी नैतिक शक्ति नष्ट रहती है अतः वे उचित अनुचित तथा तथ्य युक्त और निस्सार वस्तुओं की सम्यक विवेचना ही नहीं कर सकते हैं । जब उनमें विवेचना करने की शक्ति ही वर्त्तमान नहीं हैं तो भला वे आगे क्या बढ़ सकते हैं । सदाचार से ही शारीरिक स्वास्थ्य और औद्योगिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है । बिना स्वास्थ्य के संसार में हम किसी भी प्रकार की साधना नहीं कर सकते हैं तथा औद्योगिक प्रवृत्ति में हम सदैव आगे बढ़ने से हिचकते रहेंगे ।

स्वाध्यायी पुरुषों से युक्त देश का ही भविष्य उज्ज्वल है और वही उन्नतिशील राष्ट्रों के समकक्ष बैठने का भी अधिकारी है । हमें स्वाध्यायी बनाने के लिए हमारी शिक्षापद्धति विशेषरूप से सहयोग प्रदान करती है । शिक्षा की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हमारी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का विकास हो सके । उन शक्तियों का विकास होने पर हम में उपयुक्त गुण स्वभावतः आ जायेंगे । इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा पद्धति अत्यन्त दूषित है और हमें निकम्मा बनाने वाली है ।

सत्संग का मार्ग और उसके लाभ

सांसारिक मनुष्यों के लिये आत्मोद्धार के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जैसे जप, तप, योग, तीर्थ दान परोपकार यज्ञ आदि । ये सभी कार्य यदि उचित रीति से किये तायें तो मनुष्य को आत्मोन्नति की सीढ़ियों पर चढ़ानेवाले और परमात्मा के निकट पहुँचाने वाले हैं । पर इन सब धर्म कार्यों के लिये सत्संग का होना आवश्यक है । बिना सत्संग के मनुष्य की रुचि इन कार्यों की तरफ चली जाय ऐसा बहुत ही कम देखने में आता है । अधिकांश मनुष्य किसी न किसी निकटवर्ती या दूरदर्शी सन्त पुरुष के उपदेश अथवा प्रेरणा से ही आत्मोन्नति के मार्ग की तरफ आकर्षित होते हैं इसलिए 'योगवाशिष्ठ' में कहा गया है–

यः स्नातः शीत शितिया साधु संगति गंगया ।
किं तस्य दानैः कि तपोभिः किमध्वरैः योगवा ।।

अर्थात्–जो व्यक्ति साधु संगति रूपी शीतल निर्मल गंगा में स्नान

करता है उसे फिर किसी तीर्थ, तप, दान और यज्ञ, योग आदि की क्या आवश्यकता है ।

मनुष्य का सर्व प्रथम कर्त्तव्य संसार में यही है कि स्वयं को और अपने प्रिय जनों को सत्संगति की तरफ प्रेरित करे । आप अपनी संतान को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए, विद्या, बुद्धि, बल आदि प्राप्त करने का उपदेश देते हो, उसके लिए हर तरह के साधन जुटाते हो, जो कुछ सम्भव होता है प्रत्येक प्रयत्न करते हो । पर इन बातों के साथ तुमने उनको सत्संग की प्रेरणा नहीं दी, उनको नीच वृत्ति वाले लोगों का संग करने दिया तो अन्य समस्त सफलताऐं व्यर्थ हो जायेंगी । सत्संग ही वह प्रेरक शक्ति है जो अन्य प्रकार की शक्तियों को उपयोगी और हितकारी मार्ग पर चलाती है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल सर्वत्र दिखलाई पड़ रहा है । सब तरह से समझदार, चतुर और विद्या सम्पन्न व्यक्ति खोटे कामों में संलग्न है । चोर और डाकुओं में कालेज के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी सम्मिलित पाये जाते हैं । अनेक उच्च पदवी प्राप्त और सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्ति डकैती, लूट और अपहरण जैसे महाजघन्य कार्यों में भाग लेने वाले सिद्ध हो चुके हैं । विद्या और बुद्धि का ऐसा दुरुपयोग सत्संग के अभाव का ही परिणाम है । यदि ऐसे व्यक्तियों को आरम्भ से ही यह उपदेश मिलता कि सांसारिक धन, वैभव और सफलता तभी तक कल्याणकारी हैं जब तक वे सुमार्ग पर अग्रसर हों, उनका सदुपयोग किया जाय तो वे ऐसे मार्ग को अंगीकार न करते । अगर इन शक्तियों का दुरुपयोग किया जायेगा तो निस्सन्देह वे हानिकारक और पतनकारी सिद्ध होंगी, इसलिये माता पिता और संरक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे आरम्भ से ही बालकों की शिक्षा में पढ़ना-लिखना सीखने के साथ-साथ सद्गुणों की वृद्धि पर भी अवश्य ध्यान दें । वर्तमान समय में स्कूलों और कालेजों के लड़कों में उच्छृंखलता और नैतिक पतन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि आजकल लड़कों को केवल किताबी शिक्षा दिला देना ही माता-पिता ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया है । वे इस बात का ध्यान नहीं करते कि आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण कैसा है तथा वहाँ के अनेक विद्यार्थियों और मास्टरों तक में चरित्र हीनता का दोष

किस दर्जे तक बढ़ा हुआ है । हमारा तो यह असंदिग्ध मत है कि बच्चों को कम से कम आरम्भिक वर्षों में तो ऐसी ही शिक्षा संस्थाओं में भेजा जाय जिनमें उनको सत्संगति प्राप्त हो सके और मानव जीवन के सद्गुणों की प्रेरणा मिल सके । ऐसा करने से अगर किताबी पढ़ाई-लिखाई और परीक्षाओं में कुछ विलम्ब भी हो जाय तो हर्ज की बात नहीं ।

इसी प्रकार नव-युवकों और वयस्कों का भी कर्तव्य है कि वे स्वयं अपने इर्दगिर्द के वातावरण पर दृष्टि रखें और इस विषय में सदैव सतर्क रहें कि उनकी संगति हीन-चरित्र के व्यक्तियों से न हो । अगर वे इस विषय में सावधानी से काम लेंगे और श्रेष्ठ चरित्र के व्यक्तियों में से अपने साथी चुनेंगे तो वे सब प्रकार से उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेंगे । नियमित इष्ट-मित्रों के अतिरिक्त उनको कभी कभी किसी उच्च कोटि के ज्ञानी और महात्मा पुरुष के संसर्ग में आना भी आवश्यक है । हमारे कहने का यह आशय नहीं कि वे जंगलों और पहाड़ों में ही साधु-महात्माओं या सिद्ध पुरुषों को ढूंढ़ते फिरें । वरन् वे अपने नगर के ही किसी सच्चरित्र विद्वान उपदेशक या संस्था से सम्पर्क रखें और समय समय पर उनके द्वारा सद्विचार ग्रहण करते रहें तो उनका मानसिक उत्थान होता रहेगा और वे दुर्गुणों से बचते रहेंगे । जहाँ इनमें से कोई भी साधन नहीं वहाँ नियमित रूप से सद् ग्रन्थों, आत्म-निर्माण करने वाली पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिए । इससे भी मन बुरे विचारों से बचता है और सद्भावनाऐं उत्पन्न होती रहती हैं ।

सत्संग से विवेक जागृत होता है और मनुष्य भले-बुरे का निर्णय कर सकने में समर्थ हाता है । संसार में नित्य अनेक घटनाऐं होती रहती हैं, जिनमें से किसी का भला और बुरा प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है । यदि इन घटनाओं की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, उनके भले और बुरे प्रभावों से अन्तर्मन को पृथक रखने की सामर्थ्य नहीं रखते तो अवश्य ही हमको क्षणस्थायी सुख और दुःख की तरंगों में बहना पड़ता है । इस प्रकार सामयिक परिस्थितियों के हाथों का खिलौना बनना मनुष्य के लिये न तो शोभा देता है और न हितकर सिद्ध हो सकता है । हमारा मनुष्यत्व इसी में है कि हम सुख-दुख दोनों में अपना मानसिक संतुलन स्थिर रखें और आसक्ति के भाव को जहाँ तक सम्भव हो कम कर दें ।

इस प्रकार की मनोवृत्ति सत्संग और स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । गोसाई जी ने सत्य ही कहा है-

मति कीरति गति भूत भलाई, जब जेहिं जतन जहँ जो पाई ।
सो जानव सतसंग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ ।।

भारत की प्राचीन कथाओं से भी विदित होता है कि यहाँ के बड़े बड़े ऋषि महर्षि जन्म से बहुत ही छोटे कुलों के थे, पर सत्संगति के प्रभाव से वे जगत पूज्य बन गये और अभी तक उनका नाम बड़ी श्रद्धा भक्ति से लिया जाता है । बाल्मिकी जी बहेलिया, नारद जी दासी पुत्र, अगस्त जी घड़े से उत्पन्न, वशिष्ठ जी वेश्या पुत्र माने गये हैं, पर आत्म-परायण संत पुरुषों की संगति से उन्होंने अकथनीय उन्नति की और बहुत ऊँची पदवी पर जा पहुँचे । इन उदाहरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि जो कोई अपना जीवन सार्थक करना चाहता है, इस नर जन्म का सदुपयोग करने की कामना रखता है उसे त्यागी, विरक्त गुरुओं की संगति अवश्य करनी चाहिए ।

सत्संग और स्वाध्याय इस कंटकाकीर्ण संसार को पार करने के लिए परम उपयोगी साधन हैं । वर्तमान समय में संसार में स्वार्थ और अपहरण की जो भयंकर आँधी उठी हुई है उसमें वही व्यक्ति निश्चल रह सकता है जो स्वार्थी और धूर्त्त प्रकृति के लोगों से दूर रह कर सज्जन और सत्य-प्रिय व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है । ऐसे श्रेष्ठ प्रकृति के व्यक्ति जहाँ तक संभव होगा आपको हित की सम्मति ही देंगे और बुरे मार्ग पर चलता देखेंगे तो पहले से सावधान कर देंगे । स्वार्थी व्यक्ति तो ऐसे अवसर पर ऊपर से दो धक्के और देते हैं, जिससे उनका कुछ लाभ हो सके । इसलिए आत्म-कल्याण के अभिलाषी मनुष्यों को इस सम्बन्ध में सदैव सावधान रहकर श्रेष्ठ जनों की संगति को ही ग्रहण करना चाहिए ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा